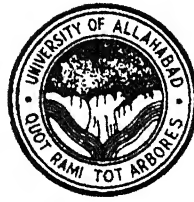


ARTISANS AND CRAFTSMEN IN ANCIENT INDIA

(IN HINDI)



By
SONI YADAV

(Being a Thesis submitted to the
University of Allahabad for the
Degree of Doctor of Philosophy in
Ancient History, Culture & Archaeology)

Supervisor
PROFESSOR V.D. MISRA

प्रस्तावना

आनन्द के० कुमारस्वामी¹ ने, प्राचीन सभ्यताओं के संगठित जीवन की समुचित जानकारी हेतु, शिल्पियों की कृतियों के अध्ययन के अतिरिक्त स्वयं उनके अध्ययन के महत्त्व को बहुत पहले ही रेखांकित किया था। इस दिशा में कुछ विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। 1975 में आर० एन० मिश्र की शोधकृति 'एन्शेंट आर्टिस्ट्स ऐण्ड आर्ट-ऐक्टिविटी' प्रकाशित हुयी। इसमें ललित कला से सम्बन्धित शिल्पियों पर विशेष प्रकाश डाला गया है। एम० के० पाल की कृति 'क्राफ्ट्स ऐण्ड क्राफ्ट्समेन इन ट्रेडिशनल इंडिया' 1978 में प्रकाशित हुयी। इसमें हस्त-शिल्पों के अतिरिक्त शिल्पियों की स्थिति का सर्वेक्षण प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक किया गया है। कुछ सुविदित शोध-कृतियों में भी अन्य सामाजिक वर्गों के अतिरिक्त शिल्पियों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इनमें राम शरण शर्मा की 'शूद्रस् इन एन्शेंट इण्डिया' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रमेश चन्द्र मजूमदार की कृति 'प्राचीन भारत में संगठित जीवन' ('कापेरिट लाइफ इन एन्शेंट इंडिया' का हिन्दी अनुवाद), विजय कुमार ठाकुर की 'अरबनाइजेशन इन एन्शेंट इंडिया' एवं किरन कुमार थपल्याल की 'गिल्ड्स इन एन्शेंट इण्डिया' से नगरों में हस्त-शिल्पियों एवं उनके श्रेणि-संगठनों पर भी कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। भारतीय इतिहास के विशिष्ट स्रोतों के आधार पर तथा विभिन्न काल-खण्डों पर लिखे गये सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के ग्रन्थ भी प्रस्तुत सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त शोध-पत्रिकाओं में भी कुछ शिल्प-समुदायों एवं उनकी स्थिति पर प्रकाश डालने वाले ज्ञानप्रद लेख मिलते हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का उद्देश्य प्राचीन भारत में प्रमुख उपयोगी, व्यावहारिक कलाओं से सम्बन्धित वृत्तिका के आधार पर बने शिल्पियों एवं कारीगरों के समुदायों का व्यापक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन

1. दि इंडियन क्राफ्ट्समैन, द्वितीय संस्करण, मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली, 1989 (प्रथम प्रकाशन, 1909), पृ० 58-59.

करना है। शिल्पियों की स्थिति के समीचीन अध्ययन हेतु लिखित स्रोतों के साक्ष्य अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं। अतः इस शोध को वैदिक काल से प्रारम्भ किया गया है। इस काल से लेकर बारहवीं शताब्दी तक की कालावधि के विभिन्न चरणों में शिल्पियों एवं कारीगरों की उपस्थिति, स्थिति एवं भूमिका के— उनके शिल्प-कर्म तथा सामाजार्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक स्थितियों की पृष्ठभूमि में— परिशीलन का प्रयास किया गया है। प्राचीन भारत के इतिहास में गुप्तोत्तर काल को अब सामान्यतः पूर्व मध्यकाल माना जाता है, जिसे प्राचीन काल के बाद आने वाला समझा जाता है। पर गुप्तोत्तर काल में पहले से चली आ रही कुछ प्रमुख परम्पराएँ एवं प्रवृत्तियाँ प्रक्षीण, परिवर्धित अथवा परिवर्तित होती दिखायी देती हैं। इस दृष्टि से पूर्व मध्यकाल को उत्तरवर्ती प्राचीन काल (late ancient period) के रूप में भी देखा जा सकता है। गहन अध्ययन के उद्देश्य से यहाँ उत्तर भारत पर ही विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया है।

अंग्रेजी के 'आर्टिज़ैन' (artisan) और 'क्राफ्ट्समैन' (craftsman), दोनों शब्द सामान्य रूप से उसके द्योतक हैं जो किसी कारीगरी सम्बन्धी हस्त-कौशल या दक्षता में प्रशिक्षित हो तथा उसी का वृत्ति के रूप में अवलम्बन करता हो।¹ ऐसी कारीगरी का सम्बन्ध मुख्य रूप से उद्योग-धन्धों वाली उपयोगी कलाओं² से होता है, जिनका सरोकार जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अभीप्सित वस्तुओं या उपकरणों के उत्पादन से होता है। परन्तु कुछ उपयोगी कलाओं, मुख्य रूप से वास्तुकला, में रूप-सौन्दर्य— जो ललित कला का सरोकार होता है— और उपयोगिता का संयोजन मिलता है।³ प्राचीन भारतीय परम्परा में उपयोगिता से सम्बन्धित कला और ललित कला में सुस्पष्ट विभेद नहीं मिलता है। इसके अतिरिक्त इस परम्परा में परिमार्जन, प्रसाधन एवं परिष्कार सम्बन्धी ऐसे दक्षतापूर्ण कर्मों को भी उपयोगी कलाओं की कोटि में शामिल कर लिया गया था, जिनमें वस्तुओं का उत्पादन या निर्माण नहीं होता— उदाहरणार्थ, रजक (धोबी) का वस्त्र-प्रक्षालन-कर्म, नापित का केशकर्तन एवं प्रसाधन का कर्म,⁴ आदि।

1 वेब्सटर्स थर्ड न्यू इंटरनेशनल डिक्शनरी आफ़ दि इंग्लिश लैंग्विज, जिल्द 1, पृ० 124 स्तम्भ 3, 528 स्तम्भ 3.

2 एनसाइक्लोपीडिया आफ़ सोशल साइंसेज़, मुख्य सम्पादक एडविन आर०ए० सेलिगमन, जिल्द 1, न्यू यार्क, 1962, पृ० 223; जिल्द 4, न्यू यार्क, 1963, पृ० 684 और आगे (इंडस्ट्रियल आर्ट्स)।

3 वही, जिल्द 1, पृ० 224.

4 द्रष्टव्य आगे। कुछ विद्वान इन्हें उत्पादक शिल्पों से भिन्न सेवा-शिल्प मानते हैं; नरेन्द्र बागले, सोसाइटी ऐट दि टाइम आफ़ दि बुद्ध, पृ० 136.

प्राचीन भारत में अपने-अपने विभिन्न उपकरणों के माध्यम से उपयोगी कलाओं से सम्बन्धित उत्पादन में संलग्न हस्त-शिल्पियों के अभिधान के संदर्भ में 'कारु' या 'कारुक' तथा 'शिल्पी' शब्द महत्वपूर्ण हैं। ऋग्वेद¹ में कारु शब्द अधिकतर कवि के लिये प्रयुक्त हुआ है, पर इसका यह अर्थ बाद के स्रोतों में नहीं मिलता है। यह शब्द 'कृ' धातु से निष्पन्न माना गया है, जिसका अर्थ 'करना' या 'बनाना' है।² इस प्रकार 'कारु' का मूल अर्थ (किसी काम का) करने वाला या (किसी वस्तु का) बनाने वाला लगता है।³ अर्थविस्तार के क्रम में यही शब्द कारीगर⁴ या दस्तकार का बोधक हो गया। 'कारु' शब्द का एक अन्य विस्तारित अर्थ कारीगरी⁵ (कारु-कर्म) भी मिलता है, और इस प्रकार, कारु-कर्म में संलग्न कारीगर को कारुक भी कहा जाने लगा। वैदिक काल के बाद विश्वकर्मा को देवताओं का कारीगर माना जाने लगा।⁶ और कुछ शब्दकोशों⁷ में कारु इनका एक नाम भी मिलता है।

'शिल्प' शब्द की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। उत्तर वैदिक काल की संहिताओं⁸ एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों⁹ में यह शब्द कई स्थलों पर मिलता है। कौषीतकि ब्राह्मण¹⁰ में 'शिल्प' का अर्थ कला मिलता है, जिसके तीन प्रकार— नृत्य, गीत एवं वाद्य संगीत— बताये गये हैं। ये सब ललित कला के अन्तर्गत आते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण¹¹ में मानवीय शिल्प को देवशिल्प (जैसे, विश्व-ब्रह्माण्ड की रचना) की अनुकृति बताते हुये कुछ मानवीय शिल्पों का उल्लेख

-
1. वैदिक इण्डेक्स, जिल्द 1, पृ० 166. पर ऋग्वेद (9 112.3) में एक स्थल पर यह शब्द भिषज् (वैद्य) के लिए भी मिलता है।
 2. मोनियर विलियम्स, ए संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० 301 स्तम्भ 1.
 3. वही, पृ० 275 स्तम्भ 1.
 4. वही, पृ० 275 स्तम्भ 1.
 5. वही, पृ० 275 स्तम्भ 1.
 6. ए०ए० मैकडॉनल, वेदिक मिथॉलोजी; पृ० 118; प्रेम सागर चतुर्वेदी, टेक्नालजी इन वेदिक लिटरेचर, नई दिल्ली, 1993, पृ० 33.
 7. वैजयन्ती-कोश, 6.1.15; विश्व प्रकाश कोश, पृ० 131, श्लोक 75.
 8. तैत्तिरीय संहिता, 1 2.2.1; काठक संहिता, 2 3, 37.9; 48.1 इत्यादि। आर० एन० मिश्र, एन्शेंट आर्टिस्ट्स ऐण्ड आर्ट-ऐक्टिविटी, पृ० 2.
 9. शतपथ ब्राह्मण, 14.9.9.33; 1.1 4.3, गोपथ ब्राह्मण, 2.6.7.9; इत्यादि।
 10. मैकडॉनल और कीथ, वै० इ०, भाग 2, पृ० 423.
 11. ऐतरेय ब्राह्मण, आनन्दाश्रम सिरिज, पूना, 1930, जिल्द 2, पृ० 764; उद्धृत द्वारा जी०सी० पांडे, फ़ाउण्डेशन्स आफ़ इंडियन कल्चर, जिल्द 1, नई दिल्ली, 1984, पृ० 323,

निम्नवत् किया गया है : हाथी-दाँत का शिल्प, कांस्य-शिल्प, कपड़ा बुनने का शिल्प, स्वर्ण-शिल्प एवं गाड़ी बनाने का शिल्प। ये सभी मानवीय शिल्प उपयोगी औद्योगिक कलायें हैं। इस प्रकार उत्तर वैदिक काल में शिल्प शब्द— जो दक्षतापूर्ण कर्म का बोधक था— उपयोगी कलाओं एवं ललित कलाओं दोनों के लिए प्रयुक्त किया जाता था। यह परम्परा बाद तक चलती जाती है। वैदिक काल के बाद धर्मसूत्र परम्परा में शिल्प-वृत्ति¹ को स्पष्ट रूप से शूद्रों से सम्बन्धित किया जाने लगा।

शिल्प-वृत्ति ग्रहण करने वाले को आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में शिल्प-जीविन् और गौतम धर्मसूत्र में शिल्पोपजीविन् एवं शिल्पिन् कहा गया है।² नारद स्मृति³ के सम्भूय-समुत्थान (साझेदारी के काम) के प्रकरण में शिल्पी उस कलाभिज्ञ को बताया गया है जो हिरण्य, कुप्य (सोने और चाँदी को छोड़कर अन्य धातुओं), सूत्र (सूत), काष्ठ (लकड़ी), पाषाण⁴, या चर्म (चमड़े) से वस्तुओं का निर्माण करता है। इस तालिका में कुम्भकार आदि का उल्लेख नहीं है : ये सम्भूय-समुत्थान के सन्दर्भ में प्रासंगिक नहीं माने गये हैं।

महाभारत में विश्वकर्मा को शिल्प-प्रजापति⁵ (शिल्प का स्रष्टा एवं अधिष्ठातृ-देव) माना गया है। जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है, विश्वकर्मा के कारु अभिधान की परम्परा का भी उदय हुआ।⁶ इस प्रकार कारु एवं शिल्पी शब्द सामान्य रूप से काफी हद तक अन्तर्बदल एवं समानार्थक समझे जाने लगे। पाणिनि (5वीं शताब्दी ई०पू० का मध्य) की अष्टाध्यायी के एक सूत्र⁷ से ज्ञात होता है कि मिश्रित आबादी वाले सामान्य ग्रामों में उपयोगी कलाओं में संलग्न लोगों को ग्रामशिल्पी कहा जाता था। पतंजलि (द्वितीय शताब्दी ई०पू०) के अष्टाध्यायी पर महाभाष्य में ऐसे ग्राम में रहने वाले शिल्पियों की संख्या पाँच बताते हुए उन्हें कारुकी⁸ कहा गया

1 गौतम धर्मसूत्र, 10 60

2. मोनियर विलियम्स, ए संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० 1073, 1074. प्राचीन बौद्ध पालि ग्रन्थों में शिल्पिन् के लिए सिप्पक एवं सिप्पिय शब्द मिलते हैं; टी० डब्ल्यू० रिस डेविड्स एवं विलियम स्टीड, पालि-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० 710.

3. हिरण्यकुप्यसूत्राणां काष्ठपाषाणचर्मणाम्।
संस्कर्ता तु कलाभिज्ञः शिल्पी प्रोक्तो मनीषिभिः॥
बृहस्पति स्मृति, के०वी० रङ्गास्वामी आर्यंगर द्वारा पुनर्निर्मित, बड़ौदा, 1941, 13.33.

4 पाषाण-शिल्प का सम्बन्ध उपयोगी व्यावहारिक कला (आवासीय वास्तुकला आदि) एवं ललित कला (धार्मिक वास्तुकला एवं मूर्तिकला), दोनों से था।

5. मोनियर विलियम्स, ए संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० 1073.

6. द्रष्टव्य ऊपर।

7 ग्रामः शिल्पिनि — अष्टाध्यायी, अनुवादक सुमित्र एम० कात्रे, दिल्ली, 1989, 6.2.62 वासुदेव शरण अग्रवाल, इंडिया ऐज नोन टु पाणिनि, पृ० 229.

8. पंचकारुकी—अष्टाध्यायी, 1.1.48 पर पतंजलि का महाभाष्य।

है। यहाँ 'कारु' या 'कारुक' एवं 'शिल्पी' शब्दों के अन्तर्बदल एवं कुछ हद तक समानार्थक होने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। अर्थशास्त्र¹ के कारुकरक्षणम् प्रकरण के अन्तर्गत शिल्पियों का भी उल्लेख मिलता है। मनुस्मृति (10.100) में भी, शूद्रों के कर्तव्य के सन्दर्भ में, 'कारुक-कर्म' एवं 'शिल्प' समानार्थक माने गये हैं। मनु के भाष्यकार मेधातिथि ने भी 'कारुकाः' (तन्तुवाय आदि कारुकों) का अर्थ 'शिल्पिनः' बताया है।² मेधातिथि³ ने तक्षकि, वर्धकि आदि को कारु और पत्रच्छेद, रूपकर्म (मूर्तिकला), आलेख्य (चित्रकला) आदि से जुड़े लोगों को शिल्पी मानने के बावजूद यह स्पष्ट कहा है कि सामान्यतः शिल्पकर्म भी कारुककर्म ही है (शिल्पमपि कारुककर्मैव)। मेधातिथि के भाष्य से यह भी संकेत मिलता है कि 'कारु' एवं 'शिल्पी' की समानार्थकता मुख्यतः उपयोगी कलाओं के सन्दर्भ में थी।⁴ अमरकोश (2.10.5) में भी 'कारु' एवं 'शिल्पी' समानार्थक शब्द माने गये हैं। बाद के शब्दकोशों⁵ में भी यही परम्परा मिलती है। पर मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट (1150-1300 ई० के बीच) ने शिल्पी एवं कारुक में अन्तर करने वाली एक परम्परा का भी उल्लेख किया है, जिसके अनुसार लोहकार आदि शिल्पियों से भिन्न सूपकार आदि कारुक कुछ उच्च स्तर की दक्षता वाले कारीगर होते थे।⁶

उपयोगी व्यावहारिक कलाओं में संलग्न शिल्पियों की स्थिति के अध्ययन हेतु साक्ष्य मुख्य रूप से देशी साहित्यिक स्रोतों, विदेशी विवरणों, अभिलेखों, उत्खनन से प्राप्त सामग्री एवं स्मारकों से उपलब्ध होते हैं। इस शोध-प्रबन्ध में विभिन्न स्रोतों से प्राप्त तथ्यों के आलोचनात्मक परीक्षण और उनके सामंजस्य के आधार पर ही किसी निष्कर्ष या अनुमान पर पहुँचने का प्रयास किया गया है। क्षेत्रीय अन्तरों को भी पहचानने का प्रयास किया

1. अर्थशास्त्र, 4 1.64.

2. मनुस्मृति—मेधातिथि रचित मनुभाष्य (लगभग 900 ई०) समेत, सम्पादक गंगानाथ झा, इलाहाबाद, 1932, 10.99 पर भाष्य।

3. मनु० 10.100 पर।

4. तदुपयोगीनि यानि कर्माणि—मनुस्मृति, 10.100 पर।

5. उदाहरणार्थ, यादव प्रकाश (11वीं शताब्दी) का वैजयन्ती कोश, 9 2— कारवः शिल्पिनः सर्वे.....।

6. कारुकान् सूपकारादीन् शिल्पिभ्य ईषदुत्कृष्टान्, शिल्पिनश्च लोहकारादीन् — मनु०, 7.138 पर कुल्लूक। यह विभेदीकरण उपयोगी व्यावहारिक कलाओं के अन्तर्गत ही किया गया है, और यह मेधातिथि के विभेदीकरण के समरूप नहीं है; द्रष्टव्य ऊपर।

गया है। शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में प्राचीन भारतीय इतिहास के विभिन्न चरणों में शिल्पियों एवं कारीगरों के समुदायों की स्थिति एवं उसमें परिवर्तन तथा उनके शिल्प-कौशल एवं योगदान का सर्वेक्षण सामाजार्थिक विकास एवं राजनीतिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में किया गया है। ये विभिन्न चरण हैं- वैदिक काल, छठी शताब्दी ईसवी पूर्व से प्राङ्मौर्य काल तक का चरण, मौर्य काल, मौर्योत्तर काल, गुप्त काल, एवं गुप्तोत्तर (पूर्व-मध्य) काल। द्वितीय अध्याय में, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में, शिल्प-श्रेणियों में प्रशिक्षुता-व्यवस्था तथा उनके संगठन, कार्य एवं स्थिति के सम्बन्ध में विचार किया गया है। तृतीय अध्याय में शिल्पियों एवं कारीगरों की सामाजार्थिक स्थिति तथा काल-क्रम में उसमें परिवर्तनों का परिशीलन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में प्रमुख धर्मों के शिल्पियों एवं कारीगरों के प्रति दृष्टिकोणों, उनसे इन लोगों के जुड़ने तथा उसके सामाजिक एवं धार्मिक महत्त्व का विवेचन किया गया है। पंचम अध्याय में प्रमुख निष्कर्षों को प्रस्तुत किया गया है।

सर्वप्रथम मैं गुरुवर प्रोफेसर विद्याधर मिश्र, पूर्व विभागाध्यक्ष, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, के प्रति अपना आभार व्यक्त करती हूँ, जो मेरे शोध-कार्य के पर्यवेक्षक रहे हैं, और जिनकी प्रेरणा, सहायता एवं महती कृपा के बिना यह कार्य संभव नहीं हो सकता था।

प्रोफेसर ओम प्रकाश, विभागाध्यक्ष, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, के प्रति मैं उनसे प्राप्त प्रेरणा एवं सहायता के लिए आभारी हूँ। विभाग के गुरुजनों डॉ० राम प्रसाद त्रिपाठी, डॉ० ज्ञानेन्द्र कुमार राय, डॉ० जय नारायण पाण्डेय, डॉ० जगन्नाथ पाल, डॉ० (श्रीमती) रंजना बाजपेयी, श्री ओम प्रकाश श्रीवास्तव, डॉ० हरि नारायण दुबे, डॉ० उमेश चन्द्र चट्टोपाध्याय, डॉ० आदित्य प्रसाद ओझा, डॉ० (श्रीमती) अनामिका राय, डॉ० (श्रीमती) पुष्पा तिवारी, डॉ० चन्द्र देव पाण्डेय, डॉ० देवी प्रसाद दुबे, डॉ० दीप कुमार शुक्ल, एवं डॉ० मानिक चन्द्र गुप्ता के प्रति मैं अपने इस शोध-कार्य में प्रोत्साहन एवं विभिन्न अवसरों पर सहायता के लिए आभार व्यक्त करती हूँ।

प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पांडे, प्रोफेसर जे०एस० नेगी, प्रोफेसर उदय नारायण राय, प्रोफेसर सिद्धेश्वरी नारायण राय, प्रोफेसर राधाकान्त वर्मा, प्रोफेसर रामकृष्ण द्विवेदी, प्रोफेसर धनेश्वर मण्डल, डॉ० सन्ध्या मुकर्जी, प्रोफेसर गीता देवी, श्री बृज बिहारी मिश्र, डॉ० रंजीत सिंह, डॉ० (श्रीमती) सुस्मिता पांडे एवं डॉ० दिनेश कुमार केसरानी की मैं अपने इस शोध-कार्य में प्रेरणा एवं आशीर्वाद के लिये अत्यन्त आभारी हूँ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के टंकण-कार्य के लिए मैं राका प्रकाशन, इलाहाबाद, के प्रबन्धक श्री राकेश तिवारी तथा उनके सहायक श्री जितेन्द्र कुमार मिश्र के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ।

अन्त में मैं अपने पति श्री एच०एल० यादव तथा अपनी माता श्रीमती उर्मिला यादव के प्रति भी आभार व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझती हूँ, जिनकी प्रेरणा का मेरे शोध-कार्य के सम्पन्न होने में बड़ा योगदान रहा।

है। अपनी बड़ी बहन डॉ० (श्रीमती) मीनाश्री यादव, डॉ० स्वतन्त्र सिंह, अपने बड़े भाई श्री अमित सिंह तथा अपने पिता डॉ० बी०एन०एस० यादव के प्रति उनकी प्रेरणा एवं सहायता के लिये शब्दों में आभार व्यक्त करना मेरे लिये सम्भव नहीं है।

12.02.2002.

इलाहाबाद

मीनाश्री यादव.

(सोनी यादव)

संकेत-चिह्न

एपि० इं०	एपिग्राफिया इंडिका ।
का० इं० इं०	कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम् ।
मनु०	मनुस्मृति ।
वै० इं०	वैदिक इण्डेक्स — ए०ए० मैकडॉनल और ए०बी० कीथ की 'वैदिक इण्डेक्स आफ़ नेम्स ऐण्ड सब्जेक्ट्स' का रामकुमार राय द्वारा हिन्दी अनुवाद।
शू० ए० इं०	शूद्रस् इन एन्शेंट इंडिया, लेखक रामशरण शर्मा।
सो० क० ना० इं०	सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दर्न इंडिया इन दि ट्वेल्फ़्थ सेंचुरी, लेखक बी०एन०एस० यादव।

विषय-सूची

अध्याय	पृष्ठ
प्रस्तावना	(1)
संकेत चिह्न	(9)
1. प्राचीन भारतीय इतिहास के क्रमिक चरणों में शिल्पी एवं कारीगर	1
2. शिल्प-प्रशिक्षुता तथा शिल्पि-श्रेणियाँ	54
3. शिल्पियों एवं कारीगरों की सामाजार्थिक स्थिति	77
4. धर्म के क्षेत्र में शिल्पी एवं कारीगर	110
5. निष्कर्ष	125
चयनित स्रोत-सूची	147

प्राचीन भारतीय इतिहास के क्रमिक चरणों में शिल्पी एवं कारीगर

सिन्धु-सभ्यता (लगभग 2500-1500 ई० पू०) के मोहनजोदड़ो, हड़प्पा आदि नगरीय पुरास्थलों से प्राप्त सामग्री एवं अवशेषों में परिलक्षित उच्च-स्तरीय शिल्प-कौशल से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि उस काल में नगरों में कुम्भकारों, प्रस्तर-शिल्पियों, बड़इयों, स्वर्णकारों, ताँबे एवं काँसे का काम करने वालों, जुलाहों, मनके एवं मुहरें बनाने वालों, हाथी-दाँत एवं शंख का काम करने वालों आदि के अलग-अलग शिल्प-समुदाय बन गये थे।¹ स्टुअर्ट पिगट² के अनुसार, शिल्पी एवं कारीगर संश्लिष्ट तकनीकी प्रक्रियाओं को अच्छी तरह समझते थे, और उन्हें सराहनीय ढंग से उत्पादन हेतु संयोजित करते थे, परन्तु उनके उत्पादन में अत्यधिक मानकाकरण, परम्परावादिता एवं उपयोगितावादी दृष्टिकोण मिलते हैं। इनके संगठन एवं सामाजिक स्थिति³ के बारे में सुनिश्चित जानकारी नहीं मिलती है।

ऋग्वेद संहिता से हमें पूर्व वैदिक काल के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। यद्यपि इसके अधिकतर सूक्त देव-स्तुतियों के रूप में हैं, फिर भी इसमें धार्मिक स्थिति के अतिरिक्त आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक स्थितियों पर प्रकाश डालने वाले अनेक तथ्य मिलते हैं। विन्टरनिट्स के अनुसार ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों का

-
1. जयनारायण पाण्डेय, पुरातत्त्व विमर्श, पृ० 359-64, 373, 396; राम शरण शर्मा, पर्सपेक्टिव्स इन सोशल ऐण्ड ईकोनॉमिक हिस्ट्री आफ अर्ली इंडिया, पृ० 105 और आगे।
 2. स्टुअर्ट पिगट, प्रीहिस्टॉरिक इंडिया, पृ० 200.
 3. देव राज चानना के अनुसार, सिन्धु-सभ्यता की अर्थ-व्यवस्था दास-स्वामित्व पर आधारित थी (स्लेवरी इन एन्शेंट इंडिया, पृ० 15-18)। यदि ऐसा रहा होगा तो यूनान एवं रोम की तरह यहाँ भी दासों को शिल्प-कार्य में नियोजित किया जाता रहा होगा। पर चानना के इस मत के पक्ष में कोई भी पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता है; राधाकृष्ण चौधरी, टाउन्स इन प्री-माडर्न इंडिया (में), सम्पादक विजय कुमार ठाकुर, पृ० 6.

रचना-काल 2000 ई०पू० के आस-पास के काल में माना जा सकता है।¹ पर यह मत अन्तिम नहीं कहा जा सकता : प्राचीनतम अंश और पहले के हो सकते हैं।²

वैदिक काल के चरण में वैदिक साहित्य से शिल्पियों एवं कारीगरों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण लिखित साक्ष्य मिलते हैं। ऋग्वेद में हमें कई शिल्पियों और कारीगरों के नाम मिलते हैं। तक्षन्³ (बढ़ई) रथ, छकड़े (अनस्)⁴ आदि बनाता था, वह परशु⁵ और बसूले (वाशी) से काम करता था और सुन्दर नक्काशी⁶ भी करता था। कर्मार⁷ या कार्मार सामान्य धातु का काम करने वाले थे जो चिड़ियों के पंखों की धौंकनी और सूखी लकड़ियों से धातु को गलाकर उसके बर्तन बनाते थे।⁸ धातु को पीट कर भी बर्तन बनाये जाते थे (अयोहत)⁹। हिरण्यकार¹⁰

-
1. विन्टरनिट्स, हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, जिल्द 1, भाग 1, पृ० 267. ऋग्वेद के 2 से 7 मण्डल प्राचीनतम माने गये हैं। 1, 8 एवं 9 मण्डल बाद के बताये गये हैं, और दसवाँ मण्डल सबसे बाद का माना गया है।
 2. गोविन्द चन्द्र पांडे, वैदिक संस्कृति, पृ० 28. प्रो० पांडे के अनुसार, प्राचीन वैदिक समाज हिमाच्छादित गिरियों से समुद्र और रेगिस्तान तक और पूर्व में कम से कम गंगा-यमुना तक फैला था; वही, पृ० 43.
 3. ऋग्वेद, 9.112.1.
 4. वही, 3.33.9.
 5. वही, 1.105.18.
 6. प्रिया तष्टानि..... व्यक्ता- ऋग्वेद, 10.86.5.
 7. ऋग्वेद, 10.72.2; 9.112.2.
 8. ऋग्वेद, 5.30.15; राधाकुमुद मुकर्जी, हिन्दू सभ्यता, पृ० 93.
 9. ऋग्वेद, 9.1.2.
 10. वही, 1.122.2 - सोना सिन्धु जैसी नदियों से, जिन्हें हिरण्यवर्तनि (ऋग्वेद 6.61.7) कहा गया है, और भूमि से (निखातं रुक्मम् - वही 1.117.5) प्राप्त किया जाता था। राधा कुमुद मुकर्जी, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 93.

(सुनार) सोने के आभूषण बनाता था। चर्मन्¹ (चर्मकार) चमड़े की वस्तुयें बनाता था, और वासो-वाय² करघे पर कपड़ा बुनने का काम करने वाला था। ऋग्वेद में रथ बनाने का तो उल्लेख मिलता है³, पर रथ बनाने वाले के लिए रथकार शब्द नहीं मिलता। इसी प्रकार मिट्टी का बर्तन बनाने वालों के लिए भी कोई विशिष्ट शब्द नहीं प्राप्त होता है। ऋग्वेद में त्वष्टा⁴ नामक देवता की अवधारणा मुख्यतः धातु-शिल्पी के रूप में की गयी है।

उत्तर वैदिक काल में अन्य तीन वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों और प्रमुख उपनिषदों की रचना हुयी। इस काल में शिल्पों का विकास मिलता है, जिसके लिए कई कारण उत्तरदायी थे। इस काल के ग्रन्थों में कुरु, पंचाल आदि अपेक्षाकृत बड़े क्षेत्रीय राज्यों के नाम आने लगते हैं।⁵ इनमें प्रशासनिक ढाँचे का भी विस्तार होता है। इस काल में लोहे के प्रयोग के साक्ष्य मिलने लगते हैं। इन राज्यों के युद्धों की तथा कुछ अन्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अच्छे हथियारों एवं उपकरणों (रथ आदि) को बनाने में इस धातु की विशेष उपयोगिता रही होगी। लोहे के प्रयोग द्वारा अच्छे शिल्प उपकरणों के निर्माण में भी प्रगति हुई होगी। इसके अतिरिक्त लोहे के उपकरण के माध्यम से अधिक जंगली भूमि को साफ कर कृषि-योग्य बनाया गया होगा⁶, और इस प्रकार कृषि-उत्पादन में वृद्धि हुई होगी। कृषि-उत्पादन के अपेक्षाकृत अतिरिक्त की स्थिति में विभिन्न शिल्पों एवं उद्योगों की उन्नति में सहायता मिली होगी। इस प्रकार के उपकरणों के उपयोग से आर्यों के भौगोलिक प्रसार; राज्य-निर्माण; तथा कृषि, उद्योग-धन्धों एवं विनिमय में प्रगति का मार्ग प्रशस्त हुआ होगा।⁷ ऋग्वेद में अयस् का अर्थ स्पष्ट नहीं है। पर इस काल में अथर्ववेद के अनेक स्थलों पर तथा अन्य ग्रन्थों में भी लोहे के लिए श्याम अयस् और ताँबे अथवा कांसे के लिए लोहित अयस् के उल्लेख मिलते हैं।⁸

1 ऋग्वेद, 8 5.38; रामशरण शर्मा, शूद्रस् इन एन्शेंट इंडिया, पृ० 32.

2 ऋग्वेद, 10 26.6.

3 वही, 10.39.14.

4 वही, 1 32.2; 1.85 9; 10.48.3.

5 राधाकुमुद मुकर्जी, हिन्दू सभ्यता, पृ० 109 और आगे।

6 अच्छे लाल, प्राचीन भारत में कृषि, पृ० 51.

7 तुलनीय ब्रजदेव प्रसाद राय, दि लेटर वेदिक इकॉनॉमी, पृ० 326. लोहे के प्रयोग का प्रारम्भ सामान्यतः लगभग 1000 ई०पू० से 700 ई०पू० के काल में माना गया है। पी०सी० प्रसाद, फारिन ट्रेड ऐण्ड कामर्स इन एन्शेंट इंडिया, पृ० 50; ब्रजदेव प्रसाद राय, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 327.

8 वै० ई०, भाग 1, पृ० 36-37.

इस काल में ऋग्वैदिक काल के जनों की परम्परा प्रक्षीण हुई और श्रम-विभाजन की प्रक्रिया के अपेक्षाकृत गहरी होने के क्रम में चतुर्वर्ण-व्यवस्था¹ का विकास होता है। चतुर्थ वर्ण के रूप में शूद्रों के वर्ग का उदय इसी काल में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।² शतपथ ब्राह्मण, जिसे वैदिक काल के अन्तिम चरण का माना जाता है, के अनुसार शूद्रों को श्रम के लिए समर्पित किया जाता था।³ शिल्प और दस्तकारी में लगे लोग, जो पहले विश्व के सदस्य माने जाते थे, धीरे-धीरे शूद्र वर्ण के अन्तर्गत माने जाने लगे।⁴ शूद्र वर्ण की स्थिति चतुर्वर्ण-व्यवस्था के अनुक्रम में निम्नतम थी। उत्तर वैदिक काल में ऋग्वैदिक काल से चली आ रही शिल्पों की परम्परा में विकास एवं विस्तार दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वैदिक काल में सभी प्रकार के लकड़ी के शिल्प-कर्म करने वालों के लिए तक्षन् शब्द आता है।⁵ पर उत्तर वैदिक काल में अथर्ववेद से लेकर आगे लकड़ी का रथ बनाने वालों के लिए रथकार शब्द मिलने लगता है।⁶ यजुर्वेद की संहिताओं (काठक, मैत्रायणी एवं वाजसनेयि), शतपथ ब्राह्मण आदि में भी इसका उल्लेख मिलता है।⁷ इस प्रकार उत्तर वैदिक काल में राज्य-विस्तार हेतु युद्धों एवं बढ़ते आवागमन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लकड़ियों का रथ बनाने वाले काष्ठ-शिल्पियों के एक अलग समुदाय का उदय हुआ। इसी प्रकार मिट्टी के उपकरण बनाने वाले शिल्पी ऋग्वैदिक काल में भी थे, पर इनके एक अलग समुदाय, जिसे कौलाल⁸ या कुलाल कहा गया है, बनने के प्रमाण उत्तर वैदिक काल के कुछ ग्रन्थों में मिलते हैं। बिदल-कारी⁹ शब्द वाजसनेयि संहिता एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण में मिलता है। एग्लिंग के अनुसार, यह टोकरी बनाने वाले कारीगर का बोधक है, पर वैदिक इण्डेक्स में इसका अर्थ 'बांस फाड़ने वाली स्त्रियाँ' बताया गया है। रस्सी बनाने वालों, धनुष बनाने वालों, एवं बाण बनाने वालों के लिए क्रमशः रज्जु-सर्ज¹⁰, धनुषकार¹¹, इषुकार¹² शब्द मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि इन दस्तकारों के भी अलग-अलग समुदाय बन गये थे।

1,2,3 एवं 4. द्रष्टव्य आगे, अध्याय 3

5. द्रष्टव्य ऊपर।

6. अथर्ववेद, 3.5.6; वै० इ०, भाग 2, पृ० 227.

7. वै० इ०, भाग 2, पृ० 227.

8. वही, भाग 1, पृ० 213.

9. वही, भाग 2, पृ० 73.

10. वही, भाग 2, पृ० 222.

11. वही, भाग 1, पृ० 435.

12. वही, पृ० 92.

यजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण में मणिकार¹ शब्द मिलता है, जो सम्भवतः मनका बनाने वाले² का बोधक है। यह स्पष्ट नहीं है कि मणि शब्द मोती या हीरे के लिए भी प्रयुक्त हुआ है अथवा नहीं। ऋग्वेद में मिलने वाले कर्मार³ और हिरण्यकार⁴ शब्द उत्तर वैदिक काल के ग्रन्थों में भी कई स्थलों पर मिलते हैं। इस काल में शिल्पियों एवं कारीगरों की श्रेणियों के स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते हैं।⁵

1. वै० इं०, भाग 2, पृ० 133.

2. ब्रजदेव प्रसाद राय, दि लेटर वेदिक इकोनोमी, पृ० 335, चित्रित धूसर मृदभाण्ड के स्तर से हस्तिनापुर, नोह, अतरंजीखेड़ा आदि के उत्खननों में मिलने वाले महत्त्वपूर्ण पुरावशेषों में मिट्टी के मनके भी हैं। वही, पृ० 336.

3. काठक संहिता, 17.13; मैत्रायणी संहिता 2.9.5; वाजसनेयि संहिता, 16.27; 30.7- वै० इं०, भाग 1, पृ० 156.

4. वाजसनेयि संहिता, 30.17; तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3.4, 14- वै० इं०, भाग 2, पृ० 560.

5. द्रष्टव्य आगे।

लगभग छठी शताब्दी ईसा पूर्व से प्राङ्मौर्य काल तक के चरण में प्राचीन भारत की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति की जानकारी मुख्य रूप से गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों, प्राचीन बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों, पाणिनि की अष्टाध्यायी और कौटिलीय अर्थशास्त्र से उपलब्ध होती है। प्रमुख गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों का काल छठी शताब्दी ई०पू० से तृतीय शताब्दी ई०पू० के मध्य माना गया है।¹ पाणिनि का काल सामान्यतः पाँचवी शताब्दी का मध्य माना गया है।² कौटिलीय अर्थशास्त्र की तिथि विवादास्पद है। सामान्यतः इसे मौर्य काल से सम्बन्धित किया जाता है। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में जातकों का महत्त्व शिल्पियों एवं कारीगरों के सम्बन्ध में जानकारी के लिए विशेष है। जातकों, जो सुत्त पिटक के एक भाग है, के अन्तर्गत गाथा वाले अंश सबसे प्राचीन हैं।³ गाथायें एवं बुद्ध के पूर्व जन्म की कथायें मौर्य साम्राज्य की स्थापना के दो या तीन शताब्दियों पूर्व की लगती है।⁴

आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विकास की जो प्रगति चल रही थी वह छठी शताब्दी ई०पू० के काल तक आते-आते एक महत्त्वपूर्ण चरण पर पहुँच जाती है। छठी शताब्दी ई०पू० के काल से एक विशिष्ट प्रकार की मृद्भाण्ड-परम्परा मिलने लगती है, जिसे उत्तरी कृष्ण पालिशदार मृद्भाण्ड (Northern Black Polished Ware) का नाम दिया गया है।⁵ इसका काल लगभग 600 ई०पू० से 200 ई०पू० तक माना गया है। ये बर्तन सुन्दर मिट्टी से चाक पर निर्मित किए गये हैं तथा इन्हें तेज आवें पर पकाया गया है।⁶ ये मिट्टी के बर्तन उत्तर प्रदेश में अहिछत्र, मथुरा, हस्तिनापुर, कौशाम्बी, सारनाथ, भीटा, श्रावस्ती तथा अतरंजीखेड़ा से अधिक संख्या में प्राप्त हुए हैं।⁷ इसके अतिरिक्त बिहार (पटना, राजगिरि, वैशाली और गिरियाक), बंगाल (चन्द्रकेतुगढ़ और वनगढ़), मध्य प्रदेश (उज्जैन, सांची, एरण, नागदा, माहेश्वर और त्रिपुरी), महाराष्ट्र (नासिक, नेवासा, बहल, कोण्डन्यपुर, आदि) तथा आन्ध्र प्रदेश (अमरावती आदि) से भी ये उपलब्ध हुए हैं।⁸ इससे आर्थिक एवं

1. पी० वी० काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जिल्द 2, भाग 1, क्रोनोलॉजिकल टेबुल, पृ० 10.

2. वासुदेव शरण अग्रवाल, इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० 475.

3. रिस डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 207.

4. आर० एस० शर्मा, शू० ए० इ०, पृ० 92. बुद्ध के पूर्व जन्म की ये कथायें द्वितीय शताब्दी ई०पू० में सांची और भरहुत की शिल्प-कला में उत्कीर्ण की गयी थीं।

5. वी० डी० मिश्र, "पॉटरी आफ कौशाम्बी (1300 ई०पू० से 200 ई०पू०)", बी० पी० सिनहा (सम्पादक) पॉटरी इन इंडिया, पृ० 207.

6. जी० आर० शर्मा, एक्सकैवेन्स एट कौशाम्बी, 1957-59, पृ० 23.

7. डी० एम० बोस, एस० एन० सेन एवं बी० वी० सुब्बरयप्पा द्वारा सम्पादित, ए कन्साइज हिस्ट्री आफ साइन्स इन इण्डिया, पृ० 297.

8. वही, पृ० 297

सामाजिक विकास की पृष्ठभूमि में मिट्टी के बर्तन बनाने की कला एवं उससे सम्बन्धित शिल्पियों (कुलालों) के समुदाय के विकास परिलक्षित होते हैं।

अनेक पुरास्थलों की खुदाइयों में उत्तरी कृष्ण पालिशदार मृद्भाण्ड के स्तरों से कई प्रकार के लौह उपकरण प्राप्त हुए हैं, जो उस काल की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में प्रगति के सन्दर्भ में शिल्प एवं कारीगरी के विकास को इंगित करते हैं। इन लौह उपकरणों से यह स्पष्ट होता है कि इस काल में उपकरणों एवं हथियारों को बनाने के लिए लोहे का अपेक्षाकृत व्यापक प्रयोग होने लगा था।¹ तक्षशिला, हस्तिनापुर, कौशाम्बी, रूपर, नागदा, सोनपुर (बिहार) आदि पुरास्थलों की खुदाइयों में जो हथियार एवं उपकरण उपलब्ध हुए हैं उनमें कटार-फलक (डैगर-ब्लेड), बड़इयों द्वारा प्रयुक्त बसूला, छेनी, हंसिया, कीलें, छुरे, भालों के अग्रभाग, बाणाग्र, कुदाल आदि प्रमुख हैं।² इन नगरों की खुदाइयों में हल के फाल नहीं उपलब्ध हुए हैं, पर प्राचीन पालि ग्रन्थों में अयो-नांगल शब्द लोहे के फाल के लिए प्रयुक्त हुआ है।³ वास्तव में नगरों में फाल का न मिलना कोई विशेष बात नहीं लगती, क्योंकि कृषि का कार्य तो ग्रामीण क्षेत्रों में होता था और इस काल के ग्रामीण क्षेत्रों में अभीप्सित उत्खनन का कार्य तो अभी होना है।

लोहे के उपकरणों के माध्यम से जंगलों को काटकर भूमि को कृषि-योग्य बनाने की प्रक्रिया में विस्तार हुआ होगा, और इसके फलस्वरूप कृषि-कार्य एवं कृषि-उत्पादन में वृद्धि हुयी होगी। अन्न उत्पादन के अपेक्षाकृत अतिरेक के फलस्वरूप उद्योग-धन्धों, व्यापार-वाणिज्य एवं नगरों का विकास हुआ। सर्वप्रथम इसी काल में चाँदी एवं ताँबे के आहत सिक्कों के निश्चित प्रमाण मिलते हैं, जिनसे व्यापार एवं वाणिज्य में विशेष सुविधा हुई होगी।⁴ छठी शताब्दी ई०पू० तक आते-आते पहले के षोडश महाजनपदों में से चार बड़े राजतन्त्रात्मक राज्य (कोशल, वत्स, मगध एवं अवन्ति) प्रमुख हो गये थे। इनमें साम्राज्यवादी सत्ता के विस्तार के लिए आपस में संघर्ष हो रहा था। बाद में चलकर इस सत्ता-संघर्ष में मगध सर्वोपरि हो जाता है। बड़े राज्यों की स्थापना की भूमिका उद्योग-धन्धों को व्यवस्थित करने एवं उनको सुरक्षा प्रदान करने में महत्वपूर्ण रही होगी।

1. जगदम्बा प्रसाद उपाध्याय, मेटल इम्प्लिमेंट्स इन एन्शेंट इण्डिया, पृ० 244.

2. भारती राज, प्राचीन भारत में सामाजिक गतिशीलता का अध्ययन, पृ० 60-61.

3. आर० एस० शर्मा, शू० ए० इ०, पृ० 95 पादरिप्पणी 3.

4. ए० घोष, दि सिटी इन अर्ली हिस्टोरिकल इण्डिया, पृ० 14-15.

प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में कई प्रकार के शिल्पियों एवं कारीगरों के उल्लेख मिलते हैं, जो नरेन्द्र वागले के अनुसार निम्नलिखित हैं :-

नलकार (नरकुल का काम करने वाले), कुम्भकार (मिट्टी के बर्तन बनाने वाले), यानकार (गाड़ी बनाने वाले), सूचीकार (सुई बनाने वाले), स्वर्णकार (सुनार), कम्मार (कर्मार या धातु का काम करने वाले), पलगण्ड, दन्तकार (हाथी-दाँत का काम करने वाले), मालाकार (माली) एवं कोशियकार (रेशम बनाने वाले)¹।

एक जातक में मणिकार का भी उल्लेख मिलता है।² वागले ने चम्मकार (चर्मकार) को इस तालिका में नहीं शामिल किया है। पर इसके उल्लेख चमड़े पर कार्य करने वाले कारीगर के रूप में विनय पिटक (4.7) तथा अन्य ग्रन्थों में मिलते हैं।³ इसी प्रकार तन्तवाय शब्द भी जुलाहे के लिए आता है⁴ (जातक, 1.356)। वागले ने इसे रजक और नापित की भाँति सेवावृत्ति करने वाला माना है। यह भी वास्तव में माल (रूई से सूत और कपड़ा) बनाने वाला कारीगर था। चित्तकार (चित्रकार) को भी वागले महोदय सेवावृत्ति के अन्तर्गत माने हैं, पर अन्य विद्वानों ने इसे एक शिल्पी की कोटि में रखा है।⁵ धर्मसूत्र-परम्परा में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि शूद्रों का कार्य अन्य तीन वर्णों की सेवा करना है। गौतम धर्मसूत्र (10.60) के अनुसार शूद्र शिल्प एवं कारीगरी (मेकेनिकल आर्ट्स) की वृत्ति भी (शिल्पवृत्तिश्च) अपना सकता था। इससे यह स्पष्ट है कि बहुत से शूद्रों के समुदायों ने उपर्युक्त शिल्पियों और कारीगरों की वृत्तियाँ अपनायी होंगी। पर प्रारम्भिक बौद्ध पालि ग्रन्थों में शिल्पियों एवं कारीगरों के वर्ण का उल्लेख नहीं मिलता है।⁶ तथापि शिल्पों के अन्तर्गत कुछ को हीन बताया गया है।⁷

1. नरेन्द्र वागले, सोसाइटी एट दि टाइम ऑफ दि बुद्ध, पृ० 137.

2. जातक 6, 276; रतिलाल एन० मेहता, प्री-बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 158, पाद टिप्पणी 15.

3. पालि-इंग्लिश डिक्शनरी, सम्पादक टी० डब्ल्यू० रिस डेविड्स एवं विलियम स्टीड, पृ० 262.

4. वही, पृ० 296.

5. आर० एस० शर्मा, शू० ए० ई०, पृ० 98; पालि-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० 266.

6. आर० एस० शर्मा, शू० ए० ई०, पृ० 98.

7. द्रष्टव्य आगे, अध्याय 3.

वैदिक साहित्य में व्यापारियों और कारीगरों की श्रेणियों के संगठन के केवल कुछ धुंधले और अनिश्चित¹ साक्ष्य मिलते हैं, जो विवादास्पद² हैं। यह मत कि बृहदारण्यक उपनिषद् में आया हुआ गण³ शब्द व्यापारियों और शिल्पियों के 'कार्पोरेशन' का बोधक है, ग्राह्य नहीं लगता। रमेश चन्द्र मजूमदार ने इस उपनिषद् पर शंकराचार्य के भाष्य के आधार पर यह मत व्यक्त किया है कि परवर्ती वैदिक काल के आर्थिक जीवन में सहकारिता का 'पर्याप्त विकसित रूप' परिलक्षित होता है। पर शंकराचार्य का काल आठवीं-नवीं शताब्दी ईसवी है, और उनके भाष्य के आधार पर उत्तर वैदिक काल की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता।⁴ इसी प्रकार श्रेणि शब्द ऋग्वेद और छान्दोग्य उपनिषद् में आता है।⁵ परन्तु यह शब्द इन ग्रन्थों में पक्षियों, अश्वों अथवा रथों की पंक्ति के लिए आया है।⁶ सामाजार्थिक विकास के क्रम में, जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है, उत्तर वैदिक काल में विभिन्न शिल्पों एवं दस्तकारियों के विकास में महत्वपूर्ण प्रगति हुई। इन परिस्थितियों में श्रेणी-संगठन का पूर्व रूप इस काल में अस्तित्व में आ गया होगा, पर उसके स्पष्ट रूप का निश्चित प्रमाण सबसे पहले प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में ही मिलता है।⁷ छठी शताब्दी ई०पू० के आस-पास के काल से लोहे के हथियारों और औजारों के अधिक प्रयोग, कृषि के विकास, सिक्कों के प्रचलन, द्वितीय नगरीकरण, बड़े राज्यों की स्थापना और बौद्ध एवं जैन धर्मों के उदय की पृष्ठभूमि में श्रेणि-संगठन को संस्थागत रूप मिलने में सहायता मिली होगी।

बौद्ध साहित्य से यह पता चलता है कि प्रत्येक महत्वपूर्ण नगर में व्यवसायों एवं शिल्पों से सम्बन्धित श्रेणियाँ विद्यमान थीं। जातक कथाओं में अट्ठारह श्रेणियों के उल्लेख मिलते हैं।⁸ पर इनमें से केवल चार श्रेणियों के ही नाम प्रायः स्पष्ट मिलते हैं- (1) वड्ढकि (बढ़ई) श्रेणि, (2) कम्मर (धातु-कर्मी) श्रेणि, (3) चम्मकार (चर्मकार) श्रेणि एवं (4) चित्तकार (चित्रकार) श्रेणि⁹। रिस डेविड्स¹⁰ ने जातक कथाओं के सामान्य साक्ष्य

1. ए० एल० वाशम, दि वन्डर दैट वाज़ इण्डिया, पृ० 217.

2. किरन कुमार थपल्लाल, गिल्ड्स इन एन्शेंट इण्डिया, पृ० 21.

3. राधाकृष्णन (सम्पादक एवं अनुवादक), दि प्रिंसिपल उपनिषद्स, पृ० 169.

4. रमेश चन्द्र मजूमदार, प्राचीन भारत में संघटित जीवन (अनुवादक के० डी० वाजपेयी), पृ० 14.

5. ऋग्वेद, 5.59.7; 1.126.4; मैकडॉनल और कीथ, वै० इ०, भाग 2, पृ० 446.

6. वै०-इ०, भाग 2, पृष्ठ 446, रथश्रेणयो- छान्दोग्य उपनिषद्, 5.14.1; राधाकृष्णन, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 438.

7. तुलनीय ए० एल० वाशम, दि वन्डर दैट वाज़ इण्डिया, पृ० 217.

8. जातक, 1.267, 314; 3.281; 4.411; 6.22.

9. जातक, 6.427.

10. टी० डब्ल्यू० रिस डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 90-96.

के आधार पर अट्टारह श्रेणियों की तालिका प्रस्तुत की है, जिसमें निम्नलिखित शिल्पी एवं कारीगर शामिल किये गये हैं :-

(1) लकड़ी का काम करने वाले, (2) धातु का काम करने वाले, (3) पत्थर का काम करने वाले, (4) बुनकर या जुलाहे, (5) चमड़े का काम करने वाले, (6) कुम्भकार, (7) हाथी-दाँत का काम करने वाले, (8) रंगाई का काम करने वाले, (9) जौहरी एवं आभूषण बनाने वाले, (10) मछुवारे, (11) कसाई, (12) शिकार करने वाले, (13) रसोइया एवं हलवाई, (14) नापित एवं केशमार्जक, (15) मालाकार एवं पुष्प-विक्रेता, (16) नाविक, (17) बेंत का काम करने वाले एवं डलिया बनाने वाले, (18) चित्रकार।

इनमें से अधिकांश हस्तशिल्पियों एवं कारीगरों की श्रेणियाँ थी। मछुवारों, नाविकों, शिकारियों आदि की श्रेणियों को हम इनके अन्तर्गत नहीं ले सकते। इसके अतिरिक्त यह स्पष्ट नहीं है कि उपर्युक्त कार्यों को करने वालों में से सभी की श्रेणियाँ समान रूप से संस्थागत रूप प्राप्त कर चुकी थीं। रमेश चन्द्र मजूमदार ने जातकों, गौतम धर्मसूत्र और बाद के अभिलेखों के आधार पर व्यापारियों और कारीगरों की सत्ताइस श्रेणियों की तालिका दी है¹, जिनमें से अधिकांश शिल्पियों एवं कारीगरों की श्रेणियाँ हैं। इस तालिका में कसकरों, ठठेरों, आदि की श्रेणियों को भी शामिल किया गया है, जिनका साक्ष्य बाद के अभिलेखों में मिलता है। पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इनकी संगठित श्रेणियाँ बुद्ध के काल में भी विद्यमान थीं।

ये शिल्पियों एवं कारीगरों की श्रेणियाँ अलग-अलग शिल्पों में कार्यरत लोगों के अपने-अपने व्यवसाय के हित-संवर्धन हेतु बनाये गये स्थानीय समूह थे। प्राचीन पालि साहित्य में इनके अध्यक्ष या प्रमुख जेडुक कहे गये हैं², जो राजा के कृपापात्र भी हो सकते थे।³ पर इन श्रेणियों के स्वरूप तथा कार्य एवं संगठन सम्बन्धी नियमों के विषय में कोई स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती है।⁴ सामान्य प्रथा के अनुसार पुत्र पिता का ही शिल्प ग्रहण करता था, पर पैतृक व्यवसाय अपनाने की यह परम्परा ठोस एवं कठोर⁵ नहीं हो पायी थी। जातकों एवं सूत्रों में ब्राह्मण के बड़ई, बुनकर आदि के काम करने के उल्लेख मिलते हैं।⁶ पर कहीं-कहीं (जातक 4.363 और आगे) कृषि, व्यापार तथा अन्य प्रतिषिद्ध कार्य करने वाले ब्राह्मणों को वर्ण-च्युत भी कहा गया है।⁷ जातक कथाओं में

1. रमेश चन्द्र मजूमदार, प्राचीन भारत में संघटित जीवन, पृ० 19-20.

2. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, जिल्द 1, पृ० 182.

3. वही, पृ० 184.

4. रतिलाल एन० मेहता, प्री-बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 212, 216.

5. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, जिल्द 1, पृ० 185.

6 एवं 7. वही, पृ० 181.

शिल्प-उद्योगों का स्थानीकरण दिखायी देता है। नगरों में हम शिल्पियों की वीथियों का उल्लेख पाते हैं; उदाहरणार्थ, हाथी-दाँत का काम करने वालों की वीथी¹ (वाराणसी में), जुलाहों का ठान² (स्थान), आदि।

स्थानीकरण की प्रवृत्ति कुछ अलग-अलग शिल्पियों के ग्रामों में भी परिलक्षित होती है, जो नगरों के पास या ग्रामीण क्षेत्रों में बसे थे। इस प्रकार जातकों में हमें बड़इयों³, लोहारों⁴ एवं कुम्भकारों⁵ के ग्रामों के उल्लेख मिलते हैं। शिल्पियों के जो ग्राम होते थे वे एक प्रकार से बाजार के रूप में होते थे, जहाँ आस-पास के ग्रामों से लोग आकर उन सामानों को लेते थे जो वहाँ के शिल्पी बनाते थे। लोहारों के ग्राम के सम्बन्ध में यह उल्लेख मिलता है कि आस-पास के गावों के लोग वहाँ आकर छुरे, कुल्हाड़ियाँ, हल के फाल, सुइयाँ आदि बनवाते या लेते थे।⁶ शिल्पियों में से काफी लोग अपनी कार्यशाला में ही उत्पादन-कार्य करते रहे होंगे। पर एक जातक⁷ के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि कुछ भ्रमणशील शिल्पी भी होते थे। यहाँ ऐसे लोहार (कम्मार) का उल्लेख मिलता है जो जहाँ कहीं भी उत्पादन-कार्य हेतु बुलाया जाता था वहाँ अपनी भट्ठी लेकर जाता था।

पर सभी शिल्पी नगरों या अपने-अपने ग्रामों में ही नहीं रहते थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी में ग्रामशिल्पिन्⁸ (ग्राम का शिल्पी) और ग्रामतक्षा⁹ (ग्राम का बड़ई) के उल्लेख मिलते हैं। गाँव में रहने वाले कुम्भकार और नाई के भी उल्लेख हैं।¹⁰ अष्टाध्यायी पर पतंजलि के महाभाष्य में मिलता है कि ब्राह्मण-ग्राम में पाँच शिल्पी (पंचकारुकी) भी रहते थे।¹¹ इससे यह स्पष्ट होता है कि मिश्रित आबादी के ग्रामों में, जिनमें कृषि आदि करने वाले लोग रहते थे, वे शिल्पी भी रहते थे जो कृषिक अर्थ-व्यवस्था में सहायक होते थे।

1. जातक, 1 320, 2 197; कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, जिल्द 1, पृ० 185.

2. जातक, 1. 356; कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, जिल्द 1, पृ० 185.

3. जातक 2 18, 405; 4 159, 207. समुद्रवाणिज जातक से हमें ज्ञात होता है कि वाराणसी के समीप एक हजार परिवार वाला वड्डकियों का एक बड़ा कस्बा था— जातक 4.158.

4. जातक, 3 281.

5. जातक, 3.376.

6. जातक, 3.281. किसानों द्वारा कृषि के लिए प्रयोग में लाये जाने वाले लोहे के उपकरणों— कुठार (कुल्हाड़ी), कुदाल (कुदाल), क्षुर (छुरा), खनित्र (फावड़ा), परशु, फाल आदि— के उल्लेख रामायण में भी मिलते हैं। अच्छे लाल, प्राचीन भारत में कृषि, पृ० 67.

7. कम्माराणां यथा उक्का

अन्तो ज्ञायति नो बहि। —जातक, 6.189.

8. अष्टाध्यायी, 6.2.62; वासुदेव शरण अग्रवाल, इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० 229.

9. अष्टाध्यायी, 5.4. 95; वा० श० अग्रवाल, वही, पृ० 229.

10. वा० श० अग्रवाल, वही, पृ० 229.

11. अष्टाध्यायी, 1.1.48 पर पतंजलि के महाभाष्य पर नागेश की टीका में, जो बाद के काल की है, इन पाँचों को कुम्भकार, लोहार, बड़ई, नाई और घोबी बताया गया है; वा० श० अग्रवाल, ऊपर उद्धृत, पृष्ठ वही।

अष्टाध्यायी में विशेष रूप से कुशल शिल्पियों के लिए राज-शिल्पिन्, राज-नापित, राज-कुलाल (राज-कुम्भकार) आदि शब्द मिलते हैं। इससे यह लगता है कि ये विशिष्ट शिल्पी राजधानी में रहते थे, और इन्हें राजाश्रय प्राप्त था।¹ राज-शिल्पिन् और राज-कुलाल (राज-कुम्भकार) आदि के उल्लेखों² के आधार पर, साक्ष्य के अभाव में, यह नहीं कहा जा सकता है कि ये शिल्पी राज्य द्वारा स्थापित शिल्प-शालाओं (कारखानों) के कर्मचारी थे। जातक³ के साक्ष्य के आधार पर टी० डब्ल्यू० रिस डेविड्स और विलियम स्टीड का अनुमान ठीक लगता है कि राज-कुम्भकार अपने शिल्प से उत्पादित वस्तुओं का प्रबन्ध राजा की आवश्यकता की पूर्ति के लिए करता था।⁴ अन्य शिल्पी भी इसी प्रकार का कार्य करते रहे होंगे। परन्तु सेवा-शिल्प में लगे हुए राजनापित आदि स्वयं राजा एवं उसके परिवार की सेवा अपने शिल्प द्वारा करते रहे होंगे।

शिल्प एवं कारीगरी के क्षेत्र में इस काल में कुशलता एवं विशेषज्ञता परिलक्षित होती हैं। शिल्पियों के लिए प्रयुक्त होने वाले कुछ शब्द व्यापक अर्थ के लगते हैं। कम्मार शब्द का प्रयोग किसी भी धातु के काम करने वाले के लिए हो सकता था। चुन्द, जिसके यहाँ बुद्ध ने अन्तिम भोजन ग्रहण किया था, कम्मार-पुत्त कहा गया है।⁵ पर वह स्वर्ण का काम करता था, और इस प्रकार वह स्वर्णकार था। एक कांसे के बरतन बनाने वाले (कांसापति) को भी कम्मार-कुल का बताया गया है।⁶ इसी प्रकार वड्डकि शब्द का प्रयोग भी सभी प्रकार के लकड़ी का काम करने वालों के लिए किया जाता था। एक जातक⁷ में आता है कि वड्डकि लोगों का ग्राम सभी प्रकार के लकड़ी के सामान और समुद्र में चलने वाली जहाजों को बनाता था। कुछ जातकों⁸ में वड्डकि शब्द वास्तुशिल्पी के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। परन्तु लकड़ी की कुछ विशिष्ट वस्तुओं को बनाने वालों को विशिष्ट नाम भी दिये गये हैं, जैसे यानकार (गाड़ी बनाने वाले), रथकार (रथ बनाने वाले) इत्यादि।

1 एवं 2. वा० श० अग्रवाल, ऊपर उद्धृत, पृ० 229

3 जातक, 5 290.

4 पालि-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० 569, स्तम्भ 2. नरेन्द्र वागले द्वारा शिल्पियों के वर्गीकरण के आधार पर हस्त-शिल्पियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है- (1) कुम्भकार आदि उत्पादन के शिल्प से सम्बन्धित शिल्पी, एवं (2) नापित, धोबी आदि सेवा-शिल्प से सम्बन्धित शिल्पी; द्रष्टव्य नरेन्द्र वागले, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 136.

5 दीघ निकाय 2, पृ० 135-36; वागले, वही, पृ० 139, पादटिप्पणी 44.

6 मज्झिम निकाय 1, पृ० 25; वागले, ऊपर उद्धृत, पृ० 139.

7 जातक 4.159; कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, जिल्द 1, पृ० 183. गाड़ी बनाने वालों के लिए भी वड्डकि शब्द मिलता है : जातक, 4.207. इनके लिए यानकार शब्द भी मिलता है।

8 उदाहरणार्थ जातक 1.201; कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, जिल्द 1, पृ० 183.

मौर्यकाल में भारत के अधिकांश भूभाग की राजनीतिक एकता तथा केन्द्रीकृत, विस्तृत एवं सुदृढ़ प्रशासन-तन्त्र के कारण सुरक्षा की भावना बढ़ी। नगरों एवं आवागमन के साधनों का और अधिक विकास हुआ। राज्य ने कृषि, उद्योग एवं व्यापार को प्रोत्साहन देने में विशेष रुचि दिखायी। इन अनुकूल परिस्थितियों में इस काल में अन्य क्षेत्रों के साथ-साथ उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व उन्नति¹ हुयी। इस उन्नति की पृष्ठभूमि में देश में कृषि, खनिज आदि से सम्बन्धित संसाधनों की प्रचुरता भी थी, जिसकी स्पष्ट जानकारी डिओडोरस² के मेगस्थनीज के लेखों से उद्धृत माने जाने वाले विवरण से मिलती है।

इस काल में वस्त्रोद्योग, काष्ठशिल्प, प्रस्तर-शिल्प, हाथी-दाँत के शिल्प, धातु-शिल्प, मणिकार के शिल्प, चर्मकार के शिल्प आदि में प्रगति दृष्टिगोचर होती है।³ संगतराशी के क्षेत्र में इस काल में जो प्रगति हुयी उसका ज्वलन्त प्रमाण अशोक के प्रस्तर-स्तम्भों की उत्कृष्ट कला है। पर अर्थशास्त्र के साक्ष्य तथा अन्य साक्ष्यों से यह संकेत मिलता है कि मौर्य काल में विशेष प्रगति काष्ठ-स्थापत्य, वस्त्र-बुनाई के शिल्प, धातु-शिल्प, एवं जवाहरात के शिल्प में हुयी।⁴

बढ़ई के शिल्प की व्यापक उपयोगिता मौर्य काल के पहले भी थी। जातकों में हम बढ़इयों द्वारा लकड़ी के भवन, नाव एवं पोत, गाड़ियों एवं रथ, मंच (चारपाई), पीठ (कुरसी), आदि बनाये जाने के उल्लेख पाते हैं।⁵ मौर्य काल में काष्ठ-शिल्प में प्रगति हुयी। लकड़ी के उत्कृष्ट वास्तु-निर्माण का प्रमाण हम राजधानी पाटलिपुत्र के चारों ओर की गयी दुर्गबन्दी में प्रयुक्त लकड़ी के प्राचीरों के भग्नावशेषों में पाते हैं, जो बुलन्दीबाग (बिहार में पटना के पास) की खुदायी में मिले हैं।⁶

1. तुलनीय उपेन्द्रनाथ घोषाल, नन्द-मौर्य युगीन भारत (सम्पादक के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री), पृ० 296.

2. रमेश चन्द्र मजूमदार (संकलनकर्ता), दि क्लैसिकल अँकाउन्ट्स आफ इण्डिया, पृ० 232-33.

3. उपेन्द्र नाथ घोषाल, वही, पृ० 297-305.

4. जी० बोनगार्ड - लेविन, ए हिस्ट्री आफ इंडिया, जिल्द 1, सम्पादित द्वारा के० अन्तोनोवा, जी० बोनगार्ड - लेविन एवं जी० कोटोव्सकी, पृ० 86.

5. अतीन्द्र नाथ बोस, सोशल एण्ड रूरल इकॉनॉमी आफ नार्दर्न इण्डिया, जिल्द 1, पृ० 246-48.

6. पर्सी ब्राउन, इण्डियन आर्किटेक्चर (बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू), पृ० 6; एम० के० पाल, क्राफ्ट्स एण्ड क्राफ्ट्समेन इन ट्राडिशनल इण्डिया, पृ० 35.

कुम्भकार के शिल्प की परम्परा भारत में सिन्धु संस्कृति एवं उसके भी पहले नवपाषाण काल से चली आ रही थी। चमकदार पालिश वाले उत्तरी कृष्ण मृद्भाण्ड की जो परम्परा प्रथम सहस्राब्दी ई०पू० के लगभग मध्य में प्रारम्भ हुयी, वह मौर्य काल में विस्तृत हुयी। देश के अनेक पुरास्थलों¹ से ये मृद्भाण्ड प्राप्त हुये हैं, जो इनके व्यापक प्रसार का सूचक है। ये मृद्भाण्ड उस काल के डीलक्स मृद्भाण्ड थे, जिनका उपयोग समृद्ध लोगों द्वारा ही किया जा रहा होगा। मौर्य काल में कुम्हारों द्वारा मृण्मूर्तियों के बनाने की प्राचीन परम्परा में भी प्रगति दृष्टिगोचर होती है। इस काल की मृण्मूर्तियाँ कौशाम्बी, (इलाहाबाद जनपद), पाटलिपुत्र (पटना जनपद), राजघाट (वाराणसी जनपद), आदि से प्राप्त हुयी हैं।² ये मूर्तियाँ मुख्यतः हस्त-निर्मित हैं, और केवल उनके मुख को साँचे से बनाया गया है।³

वस्त्रोद्योग भारत के प्राचीनतम उद्योगों में रहा है। अर्थशास्त्र में मिलता है कि सर्वोत्तम सूती वस्त्र मधुरा (दक्षिण में पाण्ड्यो की राजधानी), अपरान्त (कोंकण— पश्चिमी समुद्र तट), कलिंग, काशी, वंग, वत्स (कौशाम्बी का क्षेत्र) और महिष (नर्मदा तट पर स्थित महिषमण्डल) में बनाये जाते थे।⁴ अर्थशास्त्र (2.11.102-104) में उत्पत्ति के क्षेत्र एवं रंग के आधार पर तीन प्रकार के दुकूल (इसी नाम के पौधे के अन्दर की छाल से बना महीन कपड़ा) बताये गये हैं : इन्हें वंग (पूर्वी बंगाल), पुण्ड्र (उत्तरी बंगाल) और सुवर्णकुण्ड (कामरूप में) का, क्रमशः श्वेत, कृष्ण एवं उगते सूर्य के रंग का, बताया गया है। क्षौम नामक कपड़े (लिनेन के कपड़े) के प्रचलन का प्रमाण प्राचीन बौद्ध साहित्य में भी मिलता है। अर्थशास्त्र (2.11.106) के अनुसार, काशी एवं पुण्ड्र इसके लिए प्रसिद्ध थे। कौशेय एवं चीनपट्ट रेशमी कपड़े थे, जिनका उल्लेख इस ग्रन्थ (2.11.114) में है। जंगली जानवरों की खाल से बने तथा ऊनी कपड़ों के कई प्रकारों को बताया गया है⁵। स्ट्रैबो⁶ के अनुसार, भारतीय सोने की कसीदाकारी से युक्त कपड़े का भी प्रयोग करते थे। (पर यह समृद्ध लोगों तक ही सीमित रहा होगा।) कपड़ों के विभिन्न प्रकारों एवं उपप्रकारों के उल्लेख वस्त्रोद्योग में प्रगति तथा शिल्पियों एवं कारीगरों के कौशल एवं दक्षता के सूचक हैं।

1. एम० के० पाल, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 10.

2 एवं 3 वही, पृ० 20.

4. कौटिलीय अर्थशास्त्र, 2.11.115; दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, जिल्द 1, पृ० 375.

5. कौटिलीय अर्थशास्त्र, 2.11.73-101.

6 दि जिऑग्रफी आफ स्ट्रैबो, 15.1.54— रमेश चन्द्र मजूमदार (सम्पादक), दि क्लैसिकल अकाउंट्स आफ इण्डिया, पृ० 270.

धातु-विज्ञान एवं धातु-शिल्पों की जो परम्परा बहुत पहले से चली आ रही थी उसमें भी मौर्य काल में प्रगति दृष्टिगोचर होती है। प्राचीन बौद्ध साहित्य— दीघ निकाय (23.29) एवं जातकों— की अपेक्षा अर्थशास्त्र में अधिक धातुओं का उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ¹ में ताँबा (ताम्र), सीस (लेड), त्रपु (टिन), वैकृन्तक (?), पीतल (आरकूट), वृत्त (?), कंस (कांसा), ताल (?), लोह (लोहा), सुवर्ण और रजत के उल्लेख मिलते हैं। इस काल में धातुओं से सम्बन्धित शिल्पों में भी प्रगति हुयी होगी और धातु-शिल्पियों के समुदायों का विस्तार तथा उनकी विशेषज्ञता में अपेक्षाकृत वृद्धि हुयी होगी। आर्थिक क्रिया-कलाप में विस्तार तथा सैनिक आवश्यकताओं की वृद्धि की दृष्टि से लोहारों का महत्त्व बढ़ा होगा।² ये लोग किसानों, मालियों, बढइयों आदि के लिए कृषि-कार्य एवं शिल्पों में प्रयोग किये जाने वाले उपकरण बनाते थे। इनमें से विशिष्ट दक्षता-प्राप्त कारीगर सेना के लिए युद्ध में प्रयुक्त होने वाले तलवार, भाले, परशु आदि विभिन्न प्रकार के हथियारों का निर्माण करते थे। अर्थशास्त्र (2.18) में आयुधागाराध्यक्ष के कार्यों तथा आयुधों के सम्बन्ध में एक अलग प्रकरण मिलता है।

जवाहरात से सम्बन्धित शिल्प-कौशल के विकास का प्रमाण कौटिल्य के अर्थशास्त्र (2.11) में मिलता है। कौटिल्य ने मोतियों के हार के कई प्रकारों (पाँच से कम नहीं) और उपप्रकारों का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ में मुक्ता (मोती), मणि (Jewel), वज्र (Diamond) एवं प्रवाल (मूंगा) का उल्लेख मिलता है³, जो भारतीय एवं विदेशी दोनों प्रकार के थे। पद्मराग (माणिक्य), हीरा, मूंगा आदि के विभिन्न रंगों एवं गुणों को भी बताया गया है। इन सबका उपयोग समृद्ध लोगों के आभूषण बनाने के हेतु होता था। मणिकार इन्हें तराशता था और इन पर पालिश करता था। यूनानी लेखक स्ट्रैबो⁴ ने भारतीयों की आभूषण-प्रियता का विशेष रूप से उल्लेख किया है।

1. अर्थशास्त्र (सं० एवं अनु० आर० पी० कांगले, 2.12.23; 2.13.1 प्राचीन बौद्ध साहित्य में कंस, आरकूट, वृत्त, ताल एवं वैकृन्तक का उल्लेख नहीं मिलता है। अतीन्द्र नाथ बोस ने वैकृन्तक को पारा बताया है (सोशल ऐण्ड रूरल इकॉनॉमी आफ नार्दर्न इण्डिया, जिल्द 1, पृष्ठ 237) : पर यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। आरकूट, कंस और ताल मिश्रित धातुएँ थीं, जो ताँबे तथा टिन के विभिन्न अनुपातों में मिश्रण से बनायी जाती थीं (अर्थशास्त्र, भाग 2, कांगले-कृत अनुवाद, 2.12.23 पादटिप्पणी)। कांगले ने वृत्त को स्टील बताया है। इनके अनुसार, 'लोह' शब्द अपने व्यापक अर्थ में धातु का बोधक था, पर यह लोहे के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। अर्थशास्त्र में दो अन्य स्थलों (वही, 4.1.41; 3.17.7) पर लोहे के लिए कालायस शब्द मिलता है।

2. अतीन्द्र नाथ बोस, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 239.

3. अर्थशास्त्र, 2.11. जातकों में भी मोतियों, स्फटिक और मणियों के उल्लेख मिलते हैं; उदाहरणार्थ, जातक, 1.357, 479; 2.6; 4.60, 85, 296 इत्यादि।

4. दि जिऑग्रफी आफ स्ट्रैबो, 15.1.54— रमेश चन्द्र मजूमदार (सम्पादक), दि क्लैसिकल अकाउंट्स आफ इण्डिया, पृ० 270.

अर्थशास्त्र (2.4) में किलेबन्दी से युक्त राजधानी के नगर में, अलग-अलग दिशाओं में, आचार्य, पुरोहित, राज्य के विशिष्ट पदाधिकारियों, अनाज के व्यापारियों, ब्राह्मणों, क्षत्रियों, शूद्रों आदि के अतिरिक्त विभिन्न शिल्पों में संलग्न शिल्पियों को भी बसाने के सम्बन्ध में व्यवस्था दी गयी है। इन शिल्पियों में वेतन लेकर राजकीय शिल्प-शालाओं में काम करने वाले और स्वतन्त्र काम करने वाले दोनों प्रकार के लोग रहे होंगे। आवासी क्षेत्र से अलग श्रेणियों तथा विदेशी व्यापारियों के लिए स्थान देने की व्यवस्था भी इस सन्दर्भ में मिलती है।¹ गणपति शास्त्री² के अनुसार ये श्रेणियाँ रजक, तन्तुवाय, तुन्नवाय, आदि की रही होंगी। पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये केवल शिल्पियों और कारीगरों की थीं और इनमें व्यापारिक श्रेणियाँ नहीं थीं। स्ट्रैबो द्वारा उद्धृत मेगस्थनीज के विवरण के अनुसार नगर में पाँच-पाँच राजकीय अधिकारियों की छः समितियाँ होती थीं, जिनके अलग-अलग कार्य थे। इनमें से एक समिति शिल्पियों एवं कारीगरों द्वारा बनाये हुए सामानों का निरीक्षण करती थी और उनके समुचित विक्रय की व्यवस्था करती थी।³

अर्थशास्त्र के कारुकरक्षणम् प्रकरण में हस्तशिल्पियों एवं कारीगरों की श्रेणियों के सन्दर्भ में मिलने वाली जानकारी महत्वपूर्ण प्रतीत होती है।⁴ पर इस सम्बन्ध में विवाद भी है। गणपति शास्त्री की व्याख्या⁵ के अनुसार, निक्षेप-ग्रहण के हेतु वही प्रधान कारु (हस्तशिल्पी) अर्ह माने गये हैं जो शुचि स्वभाव के हों (अर्थ्यप्रकाराः), प्रधान कारु के रूप में अपने वशवर्ती कारुओं को हस्तशिल्प-कार्य का निर्देश देते हों (कारुशासितारः), निक्षेप के ग्रहण एवं प्रत्यर्पण का व्यवहार करते हों, अपनी पूँजी लगाकर (स्वतंत्र रूप से) शिल्प-कार्य करते हों, तथा श्रेणी के अनुशासन में (श्रेणीविधेयाः) हों। निक्षेप ग्रहण करने वाले कारु की मृत्यु या उसके दीर्घ प्रवास की स्थिति में उस निक्षेप को वापस करने का दायित्व श्रेणी का बताया गया है। इस प्रकार

1. कौटिलीय अर्थशास्त्र, 2.4.16.

2. कौटिलीयमर्थशास्त्रम्, सम्पादक विश्वनाथ शास्त्री दातार, भाग 2, खण्ड 1, पृ० 61 (श्रीमूलाव्याख्या)।

3. दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, जिल्द 1, पृ० 375.

4. अर्थ्यप्रकाराः कारुशासितारः संनिक्षेप्तारः

स्ववित्तकारवः श्रेणीप्रमाणाः

निक्षेपं गृहणीयुः।

विपत्तौ श्रेणी निक्षेपं भजेत।

कौटिलीयमर्थशास्त्रम् (टी० गणपति शास्त्री की श्रीमूला व्याख्या तथा कुछ अन्य व्याख्याओं के साथ), भाग 2, खण्ड 2, पृष्ठ 4.

आर० पी० कांगले द्वारा सम्पादित दि कौटिलीय अर्थशास्त्र (भाग 1, 4.1.2-3) में भी अर्थ्यप्रकाराः के स्थान पर अर्थ्यप्रतीकाराः शब्द के अतिरिक्त उपर्युक्त पाठ ही मिलता है। पर शाम शास्त्री द्वारा मान्य पाठ में स्ववित्तकारवः नहीं मिलता है (कौटिल्यस् अर्थशास्त्र, अनुवादक आर० शाम शास्त्री, पृ० 227 पादटिप्पणी 2)।

5. कौटिलीयमर्थशास्त्रम्, भाग 2, खण्ड 2, पृष्ठ 4.

गणपति शास्त्री की व्याख्या के अनुसार उपरोक्त विशेषणों से युक्त प्रधान कारु श्रेणी के ही सदस्य होते थे। पर आर० पी० कांगले¹ ने कारुशासित् को कारुओं का नियोजक प्रधान शिल्पी बताया है, जो उनके द्वारा ग्राहकों का काम कराता था और जो श्रेणी की परिधि के बाहर होता था। इनके अनुसार, अपनी कार्यशाला में स्वयं अपनी पूँजी से हस्त-शिल्प का कार्य करने वाले (स्ववित्तकारवः) सामान्य कारुगण ही श्रेणी में संगठित रहते थे। पर साक्ष्य एवं उसके सन्दर्भ को देखते हुये कारुशासित् को श्रेणी से असम्बद्ध मानने का कोई भी पुष्ट आधार नहीं मिलता है।

अर्थशास्त्र के वैदेहक-रक्षणम् प्रकरण² में कारुशिल्पियों द्वारा बाजार में अपनी दुकानों में (अपने द्वारा बनाये गये) माल को (ग्राहकों के हाथ) बेचने का उल्लेख मिलता है पर दासकर्मकरकल्प³ प्रकरण एवं कारुकरक्षणम्⁴ प्रकरण में वैतनिक (वेतन पर काम करने वाले) शिल्पियों के भी उल्लेख हैं। यद्यपि इस ग्रन्थ में उत्पादक एवं दुकानदार शिल्पियों से भिन्न वैतनिक शिल्पियों के एक सुस्पष्ट वर्ग के अस्तित्व का संकेत नहीं मिलता है, फिर भी मौर्य काल में वेतन पर कार्य करने वाले शिल्पियों की संख्या में वृद्धि हुयी होगी। इसका मुख्य कारण, जैसा कि अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है, यह था कि राज्य भी वस्तुओं के निर्माण एवं व्यापार सम्बन्धी क्रिया-कलापों में सक्रिय भाग लेने लगा।⁵ पहले के काल में मुख्य रूप से गहपति⁶ लोग शिल्पियों और कारीगरों को वेतन देकर उनसे काम कराते थे। पर अर्थशास्त्र में लोहाध्यक्ष⁷, सुवर्णाध्यक्ष⁸, आयुधागाराध्यक्ष⁹, सूत्राध्यक्ष¹⁰,

1. दि कौटिलीय अर्थशास्त्र, भाग 2, 4.1 2-3; भाग 3, पृ० 185.

2. कौटिलीय अर्थशास्त्र, 4.2 18.

3. अर्थशास्त्र, 3 13.30

4. अर्थशास्त्र, 4 1.

5. रामशरण शर्मा के अनुसार, राज्य द्वारा शिल्पियों का नियोजन राजधानी एवं कुछ नगरों तक ही सीमित रहा होगा, जहाँ उनकी संख्या काफी रही होगी। शू०ए०ई०, पृ० 167

6. रामशरण शर्मा, शू०ए०ई०, पृ० 166-67. प्राचीन पालि ग्रन्थों से ज्ञात हाता है कि बुद्ध के काल में अधिक समृद्ध परिवाराध्यक्ष लोग सामान्यतः गहपति कहे जाने लगे। इस प्रकार उस काल में गहपति लोगों का एक सामाजिक स्तर बनने लगा था (वागले, ऊपर उद्धृत, पृ० 154, 156)। इसके अन्तर्गत प्रायः समृद्ध जमींदार और व्यापारी आते थे; तुलनीय शिवेश चन्द्र भट्टाचार्य, सम ऐस्पेक्ट्स आफ इण्डियन सोसाइटी (द्वितीय शताब्दी ई०पू० से चतुर्थ शताब्दी ई० तक), पृ० 127. पर कभी-कभी कला और शिल्प से जीविका अर्जित करने वाले लोग भी गहपति का स्तर प्राप्त कर लेते थे— अंगुत्तर निकाय, 3.363; आर० एन० मिश्र, एन्शेंट आर्टिस्ट्स ऐण्ड आर्ट एक्टीविटी, पृ० 6.

7. अर्थशास्त्र, 2.12.23.

8. वही, 2.13.

9. वही, 2.18.

10. वही, 2.23. सूत्राध्यक्ष प्रकरण में ऊन, कपास, सन, क्षौम आदि के सूतों को बनाने के लिए विधवाओं, अपंग स्त्रियों, लड़कियों, राजाओं की वृद्ध दासियों, मंदिरों की सेवामुक्त दासियों आदि को वेतन पर नियोजित करने का प्रावधान किया गया है। अर्थशास्त्र, 2.23.2.

रक्षाध्यक्ष¹ आदि पदाधिकारियों के उल्लेख मिलते हैं। इन्हें क्रमशः सामान्य धातुओं (ताँबा, सीसा, टिन, पीतल, कांसा, लोहा, आदि) के उपकरणों; सोने एवं चाँदी की वस्तुओं; सेना के हथियारों (बाण, कवच, ढाल, शिरस्त्राण आदि); कपास, लिनेन, रेशम आदि के कपड़ों; एवं विभिन्न प्रकार के रथों को बनवाने हेतु कार्यशालायें स्थापित करने तथा उनमें वैतनिक शिल्पियों एवं कारीगरों को नियोजित करने का निर्देश किया गया है। राजकीय क्षेत्रों पर कृषि-कार्य के अध्यक्ष (सीताध्यक्ष) को भी इस कार्य हेतु उपकरण बनवाने के लिए बढइयों आदि को वेतन पर नियोजित करने का विधान किया गया है।² प्राचीन रोम की भाँति यहाँ दासों को शिल्प एवं कारीगरी के कार्य में नियोजित करने के प्रमाण नहीं मिलते हैं। पर यहाँ भी मौर्य काल में सामान्यतः शिल्पी और कारीगर को निम्नतम शूद्र वर्ण के अन्तर्गत रखा जाने लगा।³

अर्थशास्त्र⁴ के साहस प्रकरण में जबरदस्ती कोई वस्तु किसी से छीनने के अपराध के लिए वस्तु की मूल्यवत्ता के आधार पर क्रमशः वर्धमान दण्ड (जुर्माने) का विधान किया गया है। यहाँ चमड़े की बनी वस्तुओं, वेणु की टोकरी, मृद्भाण्ड आदि को बलपूर्वक छीनने पर सबसे कम जुर्माना (12 से 24 पण तक) बताया गया है। इन्हें न्यूनतम मूल्य का माना गया है। इसके बाद लोहे या लकड़ी की बनी वस्तुओं, रस्सियों और सामान्य कपड़ों आदि को बलपूर्वक छीनने पर अधिक दण्ड (24 से 28 पण) बताया गया है। तत्पश्चात् ताँबे, काँसे, काँच (शीशे), दन्त (हाथी-दाँत), वृत्त⁵ आदि से बनी वस्तुओं को छीनने पर 48 से 96 पण का दण्ड विहित किया गया है। सोना या सोने से बनी वस्तुओं, महीन कपड़ों (रेशमी आदि) की सर्वाधिक मूल्यवत्ता के आधार पर इनको छीनने पर 200 से 500 पण दण्ड का विधान किया गया है। अर्थशास्त्र के इस दण्ड-विधान से शिल्पियों एवं कारीगरों द्वारा बनायी गयी प्रमुख वस्तुओं के, मूल्यवत्ता के आधार पर, एक सामान्य अनुक्रम का संकेत मिलता है। इससे शिल्पियों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की सुरक्षा के प्रति राज्य की सतर्कता भी द्योतित होती है।

अर्थशास्त्र (4.1) में कारुक श्रेणी के उल्लेख मिलते हैं, पर इन श्रेणियों के विषय में अधिक जानकारी नहीं प्राप्त होती है। श्रेणियों के विधान और कार्यों का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता।⁶ फिर भी कांगले के अनुसार यह माना जा सकता है कि हर एक शिल्प से सम्बन्धित शिल्पियों की श्रेणियाँ रही होंगी।⁷

1. वही, 2 33

2. वही, 2.24.3, 29.

3. राम शरण शर्मा, शू.ए.ई.०, पृ० 73, 82 इत्यादि।

4 एवं 5 अर्थशास्त्र, 3.17.6. कांगले ने वृत्त को स्टील माना है पर यह निश्चित नहीं लगता है।

6. आर० पी० कांगले, दि कौटिलीय अर्थशास्त्र, भाग 3, पृ० 185.

7. वही, पृ० 185

जी०एल० आध्या¹ के अनुसार, अर्थशास्त्र (5.2) में राजा को, अभाव की स्थिति में, श्रेणियों (व्यापारियों एवं शिल्पियों की) से धन उधार लेने के लिए कहा गया है, जो उनके प्रभाव का सूचक है। पर अर्थशास्त्र में केवल नागरिकों एवं जनपद के लोगों (पौरजानपदान्)² तथा अमीर लोगों (आद्यान्)³ से ही राजा द्वारा, कोश के क्षीण हो जाने पर, धन की याचना करने की सलाह दी गयी है : इस सन्दर्भ में श्रेणी का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। वास्तव में राज्य के कठोर नियन्त्रण के कारण श्रेणियों का प्रभाव मौर्य काल में कम रहा होगा।

अर्थशास्त्र में श्रेणीबल को राजकीय सेना के एक घटक के रूप में माना गया है। इससे कुछ विद्वानों⁴ ने निष्कर्ष निकाला है कि उस काल में व्यावसायिक एवं औद्योगिक श्रेणियाँ युद्ध-कार्य भी करती थीं और वे सैनिक शक्ति के रूप में भी थीं। आर०के० मुकर्जी⁵, डी० डी० कोसम्बी⁶ आदि विद्वानों के अनुसार श्रेणीबल का अर्थ आर्थिक श्रेणियों द्वारा अपनी सुरक्षा हेतु रखे गये सैनिकों से है। पर आर०पी० कांगले⁷ आदि विद्वान् सैनिक सन्दर्भ में आये 'श्रेणीबल' शब्द से किसी अपने सरदार के अधीन संगठित सैनिक-समुदाय का अर्थ ग्रहण करते हैं। यह प्रश्न अभी तक विवादग्रस्त बना हुआ है।⁸ पर इतना तो स्पष्ट है कि यदि कुछ व्यावसायिक एवं औद्योगिक श्रेणियाँ किसी हद तक सैनिक कार्य में संलग्न हो गयी होंगी तो वे उसी हद तक अपने-अपने आर्थिक क्रिया-कलाप की मुख्य धारा से अलग हो गयी होंगी।

अर्थशास्त्र में राज्य से कारुओं और शिल्पियों के ऊपर कड़ा नियन्त्रण करने की अपेक्षा की गयी है। माल को बना कर देने में देरी करने, ग्राहकों के निर्देशों के पालन न करने, आदि को दण्डनीय अपराध माना गया है (अर्थशास्त्र, 4.1.5-7)। सामान बनाने के दौरान कच्चे माल की वृद्धि एवं हास का प्रतिशत भी निश्चित किया गया है, और हस्तशिल्पियों को उसी के अनुसार व्यवहार करने के लिए कहा गया है (अर्थशास्त्र 4.1.8, 9, 13, 36 और आगे)। ग्राहक से कच्चा माल प्राप्त करके भी बेईमानी से उसकी प्राप्ति से इन्कार करने वाले हस्तशिल्पी को चोर की भाँति दण्डनीय माना गया है (अर्थशास्त्र, 3.12.35-51)। पर शिल्पियों एवं कारीगरों के संरक्षण हेतु नियम भी अर्थशास्त्र में दिये गये हैं। उनके कार्यों की गुणवत्ता को अनुचित रूप से कम आँकने,

1 अर्ली इण्डियन ईकोनॉमिक्स, पृष्ठ 86

2 कौटिलीय अर्थशास्त्र, 5.2.33

3 वही, 5.2.35

4 उदाहरणार्थ, रमेश चन्द्र मजूमदार, प्राचीन भारत में संघटित जीवन, पृ० 28 और आगे।

5 आर० के० मुकर्जी, लोकल गवर्नमेन्ट इन एन्शेंट इण्डिया, पृ० 215-16.

6 डी० डी० कोसम्बी, दि कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन इन एन्शेंट इण्डिया इन हिस्टोरिकल आउटलाइन, पृ० 151.

7 आर० पी० कांगले, कौटिलीय अर्थशास्त्र; भाग 2, 9.1 4 पादटिप्पणी।

8 किरन कुमार थपल्याल, गिल्ड्स इन एन्शेंट इण्डिया, परिशिष्ट।

उनके सामान के विक्रय एवं क्रय में बाधा उत्पन्न करने, और उनकी उचित मजदूरी से उन्हें वंचित करने वाले के लिए जुर्माने का विधान किया गया है।¹ कारुकरक्षणम् प्रकरण में कच्चा माल लेकर सामान बनाने वाले तन्तुवाय, सुवर्णकार आदि शिल्पियों तथा रजक (धोबी) के वेतन का विधान किया गया है।²

शिल्पियों एवं कारीगरों के नियन्त्रण का उल्लेख मेगस्थनीज के विवरण में भी प्राप्त होता है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, मेगस्थनीज के अनुसार नगर की समितियों में से एक समिति शिल्पियों एवं कारीगरों द्वारा बनाये गये सामानों का निरीक्षण करती थी।³ स्ट्रैबो द्वारा दिये गये मेगस्थनीज के उद्धरण में यह भी मिलता है कि राजकीय पदाधिकारी लकड़ी काटने वालों, बढ़इयों, लोहारों आदि के कार्यों का भी निरीक्षण करते थे।⁴ इससे नगर के बाहर रहने वाले एवं राज्य के लिए काम करने वाले शिल्पियों पर एक सामान्य नियन्त्रण द्योतित होता है।⁵ एरियन द्वारा दिये गये मेगस्थनीज के उद्धरण⁶ में चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में भारतीय समाज में सात जातियों का विवरण मिलता है। ये जातियाँ वास्तव में व्यावसायिक वर्ग थीं। इनमें से एक व्यावसायिक वर्ग हस्तशिल्पियों एवं फुटकर विक्रेताओं का बताया गया है। इसी सन्दर्भ में यह भी मिलता है कि इन लोगों को बिना मजदूरी लिए लोक-सेवा के कुछ कार्य करने पड़ते थे। इसके अतिरिक्त अपने श्रम से उत्पादित वस्तुओं में से भी कुछ वस्तुयें कर के रूप में देनी पड़ती थीं। पर युद्ध के लिए हथियार बनाने वालों पर यह नियम लागू नहीं किया गया था: उन्हें राज्य वेतन देता था। जहाज बनाने वाले भी इसी कोटि में आते थे।

यूनानी भूगोलवेत्ता एवं इतिहासकार स्ट्रैबो⁷ (63 ई०पू० के आस-पास जन्म) के भारत विवरण के अनुसार यदि किसी व्यक्ति के द्वारा किसी शिल्पी के हाथ या आँख की हानि होती थी तो उस दोषी को मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। यह भी राज्य द्वारा शिल्पियों की सुरक्षा पर विशेष ध्यान दिये जाने का एक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है। पर अर्थशास्त्र⁸ में ऐसे अपराधों के लिये धन-दण्ड का ही प्रावधान मिलता है।

1. अर्थशास्त्र, 4.12.18.

2. वही, 4.1.

3. द्रष्टव्य ऊपर।

4. जे० डब्ल्यू० मैक्रिडिल, एन्शेंट इण्डिया ऐज डिसक्राइब्ड बाई मेगस्थनीज ऐण्ड एरियन, पृ० 86; राम शरण शर्मा, शू० ए० ई०, पृ० 159.

5. तुलनीय राम शरण शर्मा, ऊपर उद्धृत, पृ० 167.

6. दि क्लैसिकल अकाउन्ट्स आफ इण्डिया, सम्पादक रमेश चन्द्र मजूमदार, पृ० 225.

7. दि जिऑग्रफी आफ स्ट्रैबो, 15.1.54— रमेश चन्द्र मजूमदार (सम्पादक), ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 271.

8. अर्थशास्त्र, 3.19.

लगभग 200 ई०पू० से लगभग 300 ई० के काल में शिल्प एवं कृषि¹ के क्षेत्रों में उत्पादन की वृद्धि तथा व्यापार में प्रगति से उद्भूत द्रुत विनिमय की आवश्यकता की पूर्ति के लिए बड़ी संख्या में सिक्कों का निर्माण किया जाने लगा। फिर सिक्कों की प्रचुरता से उत्पादन एवं व्यापार को और अधिक प्रोत्साहन मिला होगा। द्वितीय शताब्दी ई०पू० से तृतीय शताब्दी ई० तक के काल में उत्तरी भारत में हिन्द-यवन नरेशों से लेकर उत्तर कुषाण शासकों तक ने तथा बहुत से जनपदों एवं नगरों ने बड़े पैमाने पर ताँबे के सिक्कों का निर्माण कराया।² सातवाहनों- जिनका आधिपत्य दकन एवं पश्चिमी भारत में था- ने भी सीसे, ताँबे एवं पोटिन (ताँबा + टिन) के सिक्के निर्मित कराये।³ ताँबे, सीसे आदि के सिक्के इस बात के द्योतक हैं कि सामान्य जन भी सिक्कों के माध्यम से लेन-देन करने लगे और आन्तरिक व्यापार की वृद्धि हुयी। इस प्रकार सिक्कों का साक्ष्य विभिन्न शिल्पों एवं व्यापार में प्रगति का सूचक है। मौर्योत्तर काल प्राचीन भारत के विदेशी व्यापार के इतिहास में सबसे समृद्ध काल था। ईसवी सन् की प्रारम्भिक दो शताब्दियों में भारत का विदेशी व्यापार मध्य एशिया, चीन एवं रोम-साम्राज्य के साथ होता था।⁴ भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में लोहे की वस्तुएँ, सूती कपड़े, रेशम एवं तराशे हुए रत्न भी शामिल थे।⁵ इससे स्पष्ट है कि इनसे सम्बन्धित शिल्पियों के क्रिया-कलाप का विशेष विस्तार एवं उत्कर्ष हुआ।

मौर्योत्तर काल में शिल्पों में प्रगति और शिल्पियों की संख्या में वृद्धि एवं इनके सापेक्षिक उत्कर्ष के साक्ष्य उस काल में नगरों एवं सम्पन्न नागरिक जीवन पर प्रकाश डालने वाले पुरातात्विक एवं साहित्यिक स्रोतों से भी प्राप्त होते हैं। उत्तरी भारत, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान, मध्य एशिया के अनेक पुरास्थलों के उत्खननों से यह स्पष्ट हो गया है कि कुषाणों के काल में नगरों की संख्या में काफी वृद्धि हुयी।⁶ पतञ्जलि

-
1. लोहे के उपकरणों के व्यापक रूप से उपयोग के फलस्वरूप कृषि-उत्पादन में वृद्धि हुयी। अच्छे लाल, प्राचीन भारत में कृषि, पृ० 113.
 2. तुलनीय रामशरण शर्मा, शू०ए०ई०, पृ० 196; परमेश्वरी लाल गुप्त, क्वाइन्स, अध्याय 3, 4, 5.
 3. परमेश्वरी लाल गुप्त, वही, अध्याय 6.
 4. तुलनीय रामशरण शर्मा, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 195.
 5. द्रष्टव्य आगे; जी०एल० आध्या, अर्ली इंडियन ईकोनॉमिक्स, पृ० 65.
 6. विजय कुमार ठाकुर, अरबनाइजेशन इन एन्शेंट इंडिया, पृ० 80.

(द्वितीय शताब्दी ई०पू० का मध्य) के महाभाष्य¹ एवं जैन ग्रन्थ बृहत्कल्प-भाष्य² (ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में रचित) में भी अनेक नगरों के नाम मिलते हैं। अश्वघोष के बुद्धचरित एवं सौन्दरनन्द, मिलिन्दपञ्चो, ललितविस्तर, आदि में इस काल के समृद्ध नगर-जीवन के प्रमुख पक्षों (उद्योग, व्यापार, शिक्षा, धार्मिक जीवन आदि) की झाँकी मिलती है।³

लगभग 200 ई०पू० से 200 ई० के काल के बीच भारत में बहुआयामी आर्थिक प्रगति हुयी⁴। आन्तरिक एवं बाह्य व्यापार में उन्नति, सिक्कों के अधिक प्रचलन तथा नगरों एवं नगर-जीवन के विशेष विकास के क्रम में शिल्पों तथा शिल्पियों एवं कारीगरों की संख्या और उनके प्रकारों में पहले की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तार हुआ। शिल्पियों के कौशल में वृद्धि तथा उनके सामूहिक संगठनों (श्रेणियों) के सुस्पष्ट विकास के भी प्रमाण उपलब्ध होते हैं। इस सन्दर्भ में इस काल से सम्बन्धित तीन प्रमुख ग्रन्थों के साक्ष्य महत्वपूर्ण हैं। ये ग्रन्थ हैं— मिलिन्दपञ्चो⁵, महावस्तु अवदान⁶ एवं अंगविज्जा⁷।

1. वैजनाथ पुरी, इंडिया इन दि टाइम आफ पतञ्जलि, पृ० 86-87.
2. जे०सी० जैन, लाइफ इन एन्शेंट इंडिया ऐज डिपिकटेड इन दि जैन कैनन, पृ० 246.
3. तुलनीय विजय कुमार ठाकुर, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 81; कमलेश्वर प्रसाद, 'अरबन अक्यूपेशन एण्ड क्राफ्ट्स इन दि कुषाण पीरियड', एसेज इन एन्शेंट इंडियन ईकोनॉमिक हिस्ट्री, सम्पादक बी०डी० चट्टोपाध्याय, पृ० 111 और आगे; द्रष्टव्य आगे भी।
4. तुलनीय राम शरण शर्मा, शू०ए०ई०, पृ० 195 और आगे; द्रष्टव्य आगे भी।
5. दि मिलिन्दपञ्चो, सम्पादक वी० ट्रेकनर, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, 1928; अंग्रेजी अनुवाद— टी०डब्ल्यू० रिस डेविड्स, दि क्वेश्चन्स आफ किंग मिलिन्द, सेक्रिड बुक्स आफ दि ईस्ट, जिल्द 35, 36; आई०बी० हार्नर, मिलिन्दस् क्वेश्चन्स, जिल्द 1,2, लन्दन, 1969.
ए०डी० पुसलकर के अनुसार, मिलिन्दपञ्चो की उत्पत्ति उत्तरी-पश्चिमी भारत में ईसवी सन् के प्रारम्भ के आस-पास सम्भवतः संस्कृत या किसी उत्तर-भारतीय प्राकृत में हुयी होगी। वही, दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी (सम्पादक आर०सी० मजूमदार एवं ए०डी०पुसलकर), पृ० 409.
6. महावस्तु अवदान, 3 जिल्दे, सम्पादक राधा गोविन्द बसाक, कलकत्ता, 1963-68. एच०पी० शास्त्री के अनुसार, इस ग्रन्थ की रचना का काल तृतीय-द्वितीय शताब्दी ई०पू० है। पर विण्टरनिट्स के मतानुसार, इसके नाभिक की प्राचीनता सम्भवतः द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व तक जा सकती है, पर चतुर्थ शताब्दी ईसवी और बाद में भी इसे बढ़ाया गया (महावस्तु अवदान, जिल्द 1, भूमिका, पृ० XVI).
7. अंगविज्जा, सम्पादक मुनि श्री पुण्य विजय जी, प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, बनारस, 1957. वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार, इस ग्रन्थ का सम्पादन पहले कुषाण काल में हुआ और फिर गुप्तकाल में यह परिष्कृत किया गया; अंगविज्जा, पृ० 94 (मूलग्रन्थ के पहले का)।

मिलिन्दपञ्चो में नगर में रहने वाले शिल्पियों और कारीगरों के उस काल में सुविदित प्रकारों की संख्या पहले के काल पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ दीघ निकाय में दी गयी सूची¹ की अपेक्षा कहीं अधिक मिलती है। ये प्रकार निम्नवत् हैं² :

सूदा - चावल पकाने वाले बावर्ची।

कप्पका - नाई।

नहापका - नहलाने वाले।

चुन्दा - धातु-कर्मी।

मालाकारा - माला बनाने वाले।

सुवण्णकारा - सोने का काम करने वाले सुवर्णकार।

सज्झकारा - चाँदी का काम करने वाले।

सीसकारा - सीसे का काम करने वाले।

तिपुकारा - टिन का काम करने वाले।

लोहकार - ताँबे का काम करने वाले।

वट्टकारा - पीतल³ या मिश्रित धातु⁴ का काम करने वाले।

अयकारा - लोहे का काम करने वाले।

मणिकारा - जौहरी।

पेसकारा - जुलाहे या बुनकर।

कुम्भकारा - कुम्हार।

-
1. दीघ निकाय, 2.50. यहाँ शिल्पियों के लगभग दो दर्जन व्यवसायों के नाम मिलते हैं।
 2. दि मिलिन्दपञ्चो, सम्पादक वी० ट्रेंकनर, पृ० 331; दि क्वेश्चन्स आफ किंग मिलिन्द, सेक्रिड बुक्स आफ दि ईस्ट, जिल्द 36, पृ० 210; मिलिन्दस् क्वेश्चन्स्, अनुवादक आई०बी० हार्नर, जिल्द 2, पृ० 171-2
 3. दि क्वेश्चन्स आफ किंग मिलिन्द, ऊपर उद्धृत।
 4. मिलिन्दस् क्वेश्चन्स, जिल्द 2, पृ० 172.

लोणकारा - नमक बनाने वाले।

चम्मकारा - चर्मकार।

रथकारा - रथकार।

दन्तकारा - हाथी-दाँत का काम करने वाले।

रज्जुकारा - रस्सी बनाने वाले।

कोच्छकारा - कंघी बनाने वाले।

सुत्तकारा - रूई से सूत कातने वाले।

विलिवकारा - डलिया बनाने वाले।

धनुकारा - धनुष बनाने वाले।

जियकारा - धनुष की प्रत्यंचा बनाने वाले।

उसुकारा - बाण बनाने वाले।

चित्तकारा - चित्तकार।

रंगकारा - रंग बनाने वाले।

रजका - रंगरेज।

तन्तवाया - जुलाहे या बुनकर।

तुन्नवाया - दरजी।

गन्धिका - इत्र बनाने एवं बेचने वाले।

वेना - बाँस का काम करने वाले।

नगरड्डकी - नगर-वास्तुकार।

मिलिन्दपञ्चो में नगर में रहने वाले कुल 75 पेशों में संलग्न समुदायों को गिनाया गया है। इनमें से उपर्युक्त 34 समुदाय स्पष्टतः शिल्पियों एवं कारीगरों के हैं, जिनमें विभिन्न प्रकार के धातु-कर्मियों की संख्या आठ

है। इनमें से कुछ शिल्पी एवं कारीगर उत्पादक होने के साथ-साथ छोटे व्यापारी भी रहे होंगे। कई प्रकार के सैनिक, व्यापारी, नर्तक आदि अन्य पेशों के लोगों के भी इस सन्दर्भ में उल्लेख मिलते हैं।

उपर्युक्त सूची में नगरवड्ढकी¹ (नगर-वास्तुकार)² का उल्लेख आता है, पर लकड़ी का काम करने वाले वड्ढकी (बढ़ई) का उल्लेख नहीं है। इसका कारण यह हो सकता है कि ये लोग नगर में न रहकर उसके बाहर अपने ग्रामों में रहते थे।³ इसी सूची में दिये गये 'पेसकार' शब्द का अर्थ टी० डब्ल्यू० रिस डेविड्स ने संदेशवाहक बताया है। पर आई० बी० हार्नर ने इसे जुलाहों या बुनकरों (weavers) के अर्थ में प्रयुक्त माना है। यहाँ रिस डेविड्स का मत इसलिए अग्राह्य लगता है कि संदेशवाहकों के, नगर में रहने वाले अन्य व्यावसायिक समुदायों की भाँति, एक सुस्पष्ट समुदाय के रूप में रहने की सम्भावना नहीं लगती है। पर यदि हार्नर के अनुसार 'पेसकार' से जुलाहों या बुनकरों का अर्थ ग्रहण किया जाय तो फिर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन्हें जुलाहों या बुनकरों से कैसे अलग समझा जाय, जिन्हें इस सूची में तन्तवाया कहा गया है। यह स्पष्ट है कि एक ही समुदाय के लिए एक ही परिगणन-सूची में दो शब्द सामान्यतः नहीं आने चाहिए। इस ग्रन्थ तथा उसके अनुवादों से इस सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं मिलता है। पर प्राकृत और देशी भाषा में 'पेस' शब्द का एक सुविदित अर्थ पेश नामक पशु के खाल के सूक्ष्म रेशों से बना हुआ वस्त्र मिलता है।⁴ अतः यह माना जा सकता है कि वे जुलाहे और बुनकर, जिन्हें उपर्युक्त सूची में 'पेसकार' कहा गया है, विशिष्ट पशु-चर्म के सूक्ष्म रेशों से कपड़े बनाते थे। सामान्य जुलाहे या बुनकर तन्तवाय कहलाते थे, जो रूई आदि के सूत से कपड़े बनाते थे।

दूसरे बौद्ध ग्रन्थ महावस्तु अवदान में कपिलवस्तु⁵ एवं राजगृह⁶ नगरों में रहने वाले बताये गये शिल्पियों एवं व्यापारियों आदि की दो अलग-अलग सूचियाँ मिलती हैं, जो लगभग एक जैसी ही हैं। इन सूचियों में विभिन्न प्रकार के, उस काल में सुविदित, गान्धर्विकों (गायकों एवं वादकों), श्रेणियों (व्यापारियों एवं उत्पादक शिल्पियों के संघटनों), तथा शिल्पायतन (शिल्पियों एवं कारीगरों) के तीन अलग-अलग वर्ग दिये गये हैं। यहाँ कुल मिलाकर विभिन्न पेशों के 101 (21+34+46) मद अंकित किये गये हैं। ये सूचियाँ भी पूर्ण नहीं हैं। कुछ

1. दि मिलिन्दपञ्चो, पृ० 330.

2. 'सिटी-आर्किटेक्ट'- क्वेश्चन्स आफ किंग मिलिन्द (ऊपर उद्धृत), पृ० 208; मिलिन्दस् क्वेश्चन्स (ऊपर उद्धृत), पृ० 170.

3. जातक में भी नगर के बाहर रहने वाले बढ़इयों के ग्राम का उल्लेख मिलता है; द्रष्टव्य ऊपर।

4. हरगोविन्द दास टी० सेठ, पाइअसहमहणवो, पृ० 615, स्तम्भ 2.

5. महावस्तु अवदान (कलकत्ता संस्करण), जिल्द 3, पृ० 152 और आगे।

6. वही, पृ० 592 और आगे।

नाम जो इस ग्रन्थ में अन्यत्र मिलते हैं, इन सूचियों में नहीं हैं; उदाहरणार्थ, तट्टकारा¹ (सुवर्णमय, रजतमय और रत्नमय भाजनों— जो भोजन रखने एवं पानी आदि पीने हेतु होते थे— को बनाने वाले)। इन दोनों सूचियों के साथ-साथ नगर में रहने वाली परम्परागत अष्टादश श्रेणियों के भी उल्लेख मिलते हैं।² पर दोनों सूचियों के श्रेणी-वर्ग में शिल्पियों एवं कारीगरों तथा व्यापारियों की कुल संख्या 34 गिनायी गयी है। इस वर्ग में स्पष्ट रूप से शिल्पियों एवं कारीगरों की निम्नलिखित श्रेणियाँ ही गिनायी हैं:— प्रवारक (लबादा बनाने वाले), मणिप्रस्तारक (रत्न जड़ने वाले), मणिकार, शांखिक, दन्तकारक, गन्धिक (इत्र बनाने वाले), तैलिक, कोशाविक (रेशम के कीड़े से सम्बन्धित कार्य करने वाले), पूषिक (पूआ या रोटी बनाने वाले), खण्डकारक (पागी हुयी चीनी या मिसरी बनाने वाले), मोदककारक (हलवाई), कण्डक (काण्डक— बेंत या नरकुल का काम करने वाले, या बाण बनाने वाले), समितकारक (समिताकारक—गेहूँ का आटा पीसने वाले), सक्तुकारक (सक्तु बनाने वाले या जौ आदि का आटा पीसने वाले), चूर्णकुट्ट (चूर्ण बनाने वाले), आविद्धक (धातु में छेद करने वाले), गुडपाचक (राब या शीरा पकाने वाले), खण्डपाचक (मिसरी पागने वाले), सीधुकारक (शराब बनाने वाले), एवं मधुकारक (अंगूरी शराब बनाने वाले)। यहाँ गिनाये गये शिल्पियों एवं कारीगरों की श्रेणियों की संख्या अपूर्ण है। इस ग्रन्थ में अन्यत्र³ निम्नलिखित हस्तशिल्पियों के नाम भी मिलते हैं, जो अपने-अपने महत्तरों (प्रधानों) की अध्यक्षता में अलग-अलग श्रेणियों में संघटित थे और जिनका उल्लेख उक्त दोनों सूचियों के श्रेणि-वर्ग⁴ में नहीं है :— मालाकार, कुम्भकार, वर्धकी, चोडधोवक (कपड़ा धोने वाले), रजक (कपड़े रंगने वाले), तट्टकार⁵, सुवर्णकार, शंख एवं गजदन्तयुक्त आभरण बनाने वाले, वरुट (बेंत—वेत्र—के समान बनाने वाले) और सूपकार (रसोइया— भोजन बनाने वाले)।

उपर्युक्त दोनों सूचियों के शिल्पायतन वर्ग में कुल 46 मदों को गिनाया गया है।⁶ पर इनमें से 35 ही स्पष्ट रूप से शिल्पी एवं कारीगर हैं। इनमें धातु का काम करने वाले शिल्पियों एवं कारीगरों में लोहकारक

1. महावस्तु अवदान, जिल्द 2, पृ० 630-31.

2. वही, जिल्द 3, पृ० 156, 592.

3. महावस्तु अवदान, जिल्द 2, पृ० 623, 624, 625, 627, 629, 630, 632, 641, 642-43.

4. इनमें से अधिकांश का परिगणन शिल्पायतन (शिल्पी एवं कारीगर) वर्ग में किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि शिल्पायतन वर्ग में रखे गये कई प्रकार के शिल्पी एवं कारीगर भी अपनी-अपनी श्रेणियों में संघटित रहे होंगे

5. द्रष्टव्य ऊपर

6. पर इस वर्ग में कूपखनक (कुयें खनने वालों), मृत्तिकावाहक (मिट्टी ढोने वालों), काष्ठवाहक, आदि कुछ श्रमिकों; नाविकों तथा बांस बेचने वालों (वंशवाणिज), तृण एवं तृण से बनायी गयी वस्तुओं को बेचने वालों (तृणवाणिज) आदि कुछ छोटे व्यापारियों के भी उल्लेख हैं। ये व्यापारी अपने द्वारा बांस, तृण, आदि से बनायी गयी वस्तुओं को बेचते भी रहे होंगे।

(प्रस्तुत सन्दर्भ में लोहार), ताम्रकुट्ट (ताँबे का काम करने वाले), सुवर्णकार (सुनार), तद्धुकार (स्वर्ण-चूर्ण निकालने वाले?), प्रध्वोपक (धौंकनी का प्रयोग कर उपकरण बनाने वाले), त्रपुकारक (टिन का काम करने वाले), सीस-पिचचटकारक (सीसे की चादर बनाने वाले), और यन्त्रकारक (यन्त्र बनाने वाले) के उल्लेख किये गये हैं। यहाँ चाँदी एवं मिश्र-धातु का काम करने वालों, जिनका उल्लेख मिलिन्दपञ्चो में मिलता है, को नहीं गिनाया गया है। पर यहाँ कन्दुकार¹ का उल्लेख मिलता है, जो सम्भवतः हांडा बनाने वाले थे और जिनका उल्लेख मिलिन्दपञ्चो में नहीं मिलता है। वस्त्रोद्योग से सम्बन्धित शिल्पियों एवं कारीगरों की संख्या यहाँ मिलिन्दपञ्चो की सूची की अपेक्षा अधिक मिलती है। अधिक मिलने वाले नाम ऊर्णवायक (ऊनी धागों को बुनने वाले), वरूथतन्त्रवायक (कवच या बख्तर बुनने वाले), एवं देवता-तन्त्रवाय (देवताओं की मूर्तियों के कपड़े बनाने वाले) हैं।

महावस्तु अवदान के शिल्पायतन वर्ग में वर्धकि-रूपकारक और स्थपति-सूत्रधारक के भी उल्लेख मिलते हैं। वर्धकि-रूपकारक का अर्थ राधागोविन्द बसाक² ने बड़ई और मूर्तिकार बताया है। स्थपति और सूत्रधारक शब्द क्रमशः प्रधान वास्तुकार और भूमापक-रूपांकाक-के लिए प्रयुक्त लगते हैं।³ (मिलिन्दपञ्चो में नगर-वड्ढकी शब्द नगर-वास्तुकार के लिए मिलता है।)⁴ इससे यह संकेत मिलता है कि विचारणीय काल में वास्तुकला एवं मूर्तिकला के क्षेत्र में विशेष प्रगति हुयी। पाषाण के स्थापत्य, उत्कीर्ण-शिल्प एवं मूर्तिकला में भी उल्लेखनीय प्रगति के प्रमाण मिलते हैं।⁵ इसी वर्ग में पुस्तकारक (भिन्न पाठ पुस्तकर्मकारक)⁶ का उल्लेख भी मिलता है, जो मृण्मूर्तियाँ आदि बनाने वाले⁷ बताये गये हैं। इससे मृण्मूर्ति बनाने वालों की कला में विकास एवं उनके समुदाय का अपेक्षाकृत विस्तार द्योतित होता है।

शिल्पायतन वर्ग में गिनाये गये अन्य शिल्पी एवं कारीगर मालाकार, कुम्भकार, चर्मकार, चित्रकार, रजक, नापित आदि हैं, जिनका उल्लेख पहले के ग्रन्थों में भी मिलता है।

1. प्राचीन जैन ग्रन्थों में 'कन्दु' शब्द हांडा नामक बर्तन के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसमें माण्ड वगैरह पकाया जाता था (पाइअसदमहण्णवो, पृ० 212, स्तम्भ 2)।
2. महावस्तु अवदान, खण्ड 1, प्राक्कथन, पृ० 39. पर जे०जे० जोन्स ने वर्धकि-रूपकार पाठ ग्रहण करते हुये इसका अर्थ 'बड़ई' बताया है, वही (अनुवादक), दि महावस्तु, लन्दन, 1956, 3.112; आर०एन० मिश्र, एन्शेंट आर्टिस्ट्स ऐण्ड आर्ट ऐक्टिविटी, पृ० 11. परन्तु रूपकार शब्द अपने पारिभाषिक अर्थ में मूर्तिकार के लिए ही मिलता है; तुलनीय आर०एन० मिश्र, ऊपर उद्धृत, पृ० 10, 17.
3. तुलनीय आर०एन० मिश्र, ऊपर उद्धृत, पृ० 12.
4. द्रष्टव्य ऊपर।
5. तुलनीय जयनारायण पाण्डेय, भारतीय कला एवं पुरातत्त्व, पृ० 45-81.
6. महावस्तु अवदान, खण्ड 3, पृ० 156.
7. जे०जे० जोन्स (अनुवादक), दि महावस्तु, जिल्द 3, पृ० 444. आर०एन० मिश्र, ऊपर उद्धृत, पृ० 11.

जैन ग्रन्थ अंगविज्जा फलादेश का एक महाकाय ग्रन्थ है। इसमें मनुष्यों के अंगों, उनकी विविध चेष्टाओं एवं क्रियाओं आदि से सम्बन्धित निमित्तों के आधार पर प्रश्नों के शुभाशुभ फलादेश करने के नियम दिये गये हैं। अतः इसमें सामाजिक एवं आर्थिक जीवन से सम्बन्धित जो तथ्य मिलते हैं वे, स्वाभाविक रूप से, मुख्यतः कुषाण काल¹ की वास्तविक स्थिति के द्योतक हैं। जो शिल्पी एवं कारीगर फलादेश करने वालों के सम्पर्क में प्रायः आते थे उन्हीं का उल्लेख इस ग्रन्थ में हो सकता था।

यहाँ पेशों का मोटे तौर पर पाँच वर्गों² में विभाजन किया है, जो महावस्तु की अपेक्षा अधिक समीचीन लगता है। ये पाँच वर्ग हैं- (1) रायपोरिस (राज-सेवा जिससे सम्बन्धित लोग राजपुरुष कहलाते थे), (2) कसिगोरक्ख (कृषि एवं पशुपालन), (3) कारुककम्म (हस्त-शिल्पियों एवं कारीगरों का पेशा), (4) ववहार (व्यापार एवं वाणिज्य का पेशा), और (5) भतिकम्म (मजदूरी पेशा)। पर ये वर्ग ऊर्ध्वाधर रूप से विभाजित एकदम अलग-अलग वर्ग नहीं कहे जा सकते। उदाहरणार्थ, कुछ शिल्पी एवं कारीगर ऐसे भी रहे होंगे जो अपने मुख्य पेशे के साथ-साथ छोटे विक्रेता भी रहे होंगे।³ वे अपने द्वारा निर्मित सामान को सीधे ग्राहकों के हाथ बेचते भी रहे होंगे।

इस ग्रन्थ में जिन शिल्पियों एवं कारीगरों के उल्लेख प्राकृत में मिलते हैं, इनमें से अधिकांश वही हैं जो मिलिन्दपञ्चो एवं महावस्तु में तथा और पहले के ग्रन्थों में मिलते हैं। ये निम्नवत् हैं :

कुम्भकार, कोलिक (जुलाहे या तन्तुवाय), चम्मकार (चर्मकार), चित्तकार (चित्रकार), ण्हाविय (नापित या नहलाने वाले), सुवण्णकार (स्वर्णकार), लोहकार, मणिकार, मालाकार, रथकार (रथकार), संखकार, रजक (धोबी), रत्तरंजक (रंगरेज-लाल रंग से रंगाई के विशेषज्ञ), आपूपिक (पुआ बनाने वाले हलवाई), गंधिक (इत्र बनाने वाले) इत्यादि।⁴

अंगविज्जा में तवु (त्रपु = टिन), वट्टलोह (मिश्रित धातु जिसमें पीतल भी शामिल है), तंब (ताँबा), एवं सीसक (सीसा) के उल्लेख मिलते हैं। पर मिलिन्दपञ्चो एवं महावस्तु⁵ की भाँति इनके काम करने

1. द्रष्टव्य ऊपर।

2. अंगविज्जा, 28, पृ० 159.

3. द्रष्टव्य ऊपर।

4. अंगविज्जा, पृ० 160-61.

5. महावस्तु में भी वट्टकार का उल्लेख नहीं है।

वाले अलग-अलग शिल्पियों के उल्लेख नहीं हैं। यह हो सकता है कि इन सबको यहाँ तट्टकारा¹ (ठठेरा) के अन्तर्गत मान लिया गया हो। इस ग्रन्थ में लाख का सामान बनाने वालों के लिए जतुकार² शब्द मिलता है। महावस्तु³ में भी खिलौने आदि बनाने वाला 'जनुकार' लाख का ही सामान बनाने वाला लगता है।

अंगविज्जा में कंसकर⁴, कंसकारक⁵ एवं कांसिक⁶ शब्द कांसे का काम करने वालों के लिए आते हैं। कांसे के लिए कंस शब्द मिलिन्दपञ्चो में भी आता है, पर उस ग्रन्थ में कांसे का काम करने वालों के लिए अलग शब्द नहीं मिलता है। सम्भवतः वट्टकारक (मिश्रित⁷ धातु का काम करने वालों) के अन्तर्गत ही इन्हें शामिल कर लिया गया हो। महावस्तु में भी कांसे का काम करने वालों का अलग से उल्लेख नहीं मिलता। पुरातत्त्व के साक्ष्य से यह ज्ञात होता है कि सिन्धु संस्कृति के बाद प्रथम शताब्दी ईसवी के प्रारम्भ तक कांसे के उपकरण लगभग नहीं के बराबर मिले हैं।⁸ अंगविज्जा में कांसे के काम करने वालों के अलग अभिधान मिलने के साक्ष्य से यह संकेत मिलता है कि कुषाण काल में कांस्य-शिल्प में प्रगति हुयी।

अंगविज्जा में महावस्तु की भाँति लोहकार⁹ शब्द लोहार के लिए आता है, जबकि मिलिन्दपञ्चो में यह ताँबे का काम करने वालों के लिए प्रयुक्त हुआ है। अंगविज्जा¹⁰ में लोहे के तीन प्रकार बताये गये हैं—काललोह, मुण्डलोह और तिक्खलोह (तीक्ष्ण लोह)। तीक्ष्णलोह इस्पात के लिए प्रयुक्त लगता है।¹¹ इससे यह संकेत मिलता है कि कुषाण काल तक लोहे से सम्बन्धित शिल्प एवं कारीगरी में तकनीक एवं गुणवत्ता की दृष्टि से काफी विकास हो गया था।

1. अंगविज्जा, पृ० 160 (पंक्ति 13), भूमिका, पृ० 69
2. वही, पृ० 160 (पंक्ति 12)। महाभारत में जतुगृह का उल्लेख मिलता है, जिस पर लाख (जतु) एवं अन्य ज्वलनशील पदार्थ से पलस्तर किया गया था (मोनियर विलियम्स, ए संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० 409, स्तम्भ 3)।
3. महावस्तु, जिल्द 2, पृ० 639.
4. अंगविज्जा, पृ० 160
5. वही, पृ० 161.
6. वही, पृ० 292
7. कांसा और ताँबा का मिश्रण।
8. बी०बी० लाल, एन्शेंट इंडिया, XII, पृ० 53-57; उद्धृत द्वारा जी०एल० आघ्या, अली इंडियन ईकोनॉमिक्स, पृ० 54 पादटिप्पणी 6.
9. अंगविज्जा, भूमिका, पृ० 47. पर इस ग्रन्थ में लोह शब्द कांसा (कंस-लोह) आदि सामान्य धातुओं के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। वही, पृ० 233.
10. अंगविज्जा, पृ० 233, 259.
11. भागवत पुराण (5.175) में भी यह शब्द इस्पात के लिए प्रयुक्त हुआ है; मोनियर विलियम्स, ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० 449, स्तम्भ 1. अर्थशास्त्र में इस्पात के लिए वृत्त शब्द मिलता है (द्रष्टव्य ऊपर)।

कुछ विदेशी साहित्यिक स्रोतों से ज्ञात होता है कि ईसवी सन् के प्रारम्भिक काल में भारत में तैयार किये गये लोहे की बाजारें विदेशों में भी थी। पेरिप्लस¹ के अनुसार भारतीय लोहा एवं इस्पात एरिआका (खम्भात की खाड़ी के आस-पास के क्षेत्र) से अफ्रीका के बन्दरगाहों को भेजा जाता था। तक्षशिला के सिरकप² नगर के उत्खनन में जो लोहे के घरेलू बरतन, हथियार एवं कवच, विभिन्न उपकरण, कीलें आदि मिले हैं उनसे भी इस काल में उत्तरी भारत में लोहे से सम्बन्धित शिल्प में प्रगति दृष्टिगोचर होती है। पर उत्तरी भारत के अन्य पुरास्थलों से लोहे के पुरातात्विक साक्ष्य बहुत अधिक नहीं मिले हैं।

अंगविज्जा में वस्त्रोद्योग के सम्बन्ध में जो साक्ष्य मिलते हैं उनसे इस क्षेत्र में भी उल्लेखनीय प्रगति दृष्टिगोचर होती है। इस ग्रन्थ में कपड़े के कई प्रकारों का परिगणन किया गया है, जो निम्नवत् हैं :-

कोसेज्ज (कौशेय-रेशम के कीड़े से प्राप्त सामग्री से बना रेशमी वस्त्र), पतुज्ज (पत्रोर्ण-एक दूसरे कीड़े से प्राप्त सामग्री से बना वस्त्र), आविक (चतुष्पद पशुओं से प्राप्त अर्थात् अवि के बालों का बना वस्त्र), खोमक (क्षौम-लिनेन से बना वस्त्र), दुकुल्ल या दुगुल्ल (दुकूल-इसी नाम के वृक्ष की छाल-से बना वस्त्र), जगिक (?), वागपट्ट (त्वचा या छाल से बना वस्त्र), चीणपट्ट (चीन देश से आया रेशमी वस्त्र या वहाँ से आये हुए रेशम से बना वस्त्र), एवं कप्पासिक (कपास के सूत से बना वस्त्र)। ऊन से बने वस्त्र के लिए उण्णिक (और्णिक) शब्द मिलता है। अजीणपट्ट³ (अजिणपट्ट=अजिनपट्ट) हरिण आदि पशुओं की खाल से बने कपड़े के लिए प्रयुक्त लगता है। धातुओं से बने वस्त्रों में लोहजालिका (लोहे की कड़ियों से बने हुए कवच), सुवर्णपट्ट (सुनहले तारों से बने हुए वस्त्र), एवं सुवर्णखसित (सुनहले तारों से खचित या जरी के काम के वस्त्र) के उल्लेख मिलते हैं।

कपड़े के उपर्युक्त विभिन्न प्रकारों में से अधिकांश के नाम अर्थशास्त्र में भी मिलते हैं। अंगविज्जा के काल (कुषाण काल) में नगरों एवं नगर-जीवन के और अधिक विकास तथा व्यापार की उन्नति के कारण वस्त्रोद्योग में भी प्रगति हुयी। इससे सम्बन्धित शिल्पियों के समुदायों का भी विकास एवं विस्तार हुआ होगा। इस ग्रन्थ में रेशम का कपड़ा बुनने वालों के लिए कोसज्जवायक शब्द का मिलना इस बात का सूचक है कि रेशम के बुनकरों का एक विशिष्ट समुदाय बन गया था।

1. प्लिनी, 34.154; पेरिप्लस, 6.40.41; जी०एल० आध्या, ऊपर उद्धृत, पृ० 52 पादटिप्पणी 5.

2. मार्शल, टैक्सिला, 2, पृ० 533.

3. जैन प्राकृत में अजिण शब्द हरिण आदि पशुओं के चमड़े के लिए मिलता है- पाइअ-सद-महण्णवो, पृ० 22.

वस्त्रों के लिए रूई के अधिक प्रयोग के साक्ष्य लगभग 200 ईसवी पूर्व से 300 ई० तक के काल में उपलब्ध होते हैं।¹ प्रथम शताब्दी ईसवी के एक जैन ग्रन्थ आचारांग सूत्र (2.5.1) में रूई के कई प्रकारों—हरी रूई, सामान्य रूई, और बंगाल रूई— के उल्लेख मिलते हैं।² बंगाल का मलमल प्रसिद्ध हो गया था, जो भारत के बाहर भी भेजा जाता था।³ पेरिप्लस के साक्ष्य से यह ज्ञात होता है कि उज्जयिनी एवं तगर से अरब, सोकोत्रा और मिन्न को बड़ी मात्रा में सूती वस्त्र निर्यात किये जाते थे।⁴ इन वस्त्रों के लिए भारत के बाहर रोमन साम्राज्य के विभिन्न भागों में काफी बड़ी बाजार मिलती थी।⁵

अंगविज्जा⁶ में एक स्थान पर कोलिक (वस्त्र बुनने वालों) का कोसेज्जवायक (रेशमी वस्त्र बुनने वालों) और कम्बलवायक (ऊनी वस्त्र बुनने वालों) के साथ अलग से उल्लेख मिलता है। इससे यह लगता है कि कोलिक ऊनी और रेशमी वस्त्रों को नहीं बुनते थे : वे मुख्य रूप से सूती तथा कुछ अन्य वस्त्रों को ही बुनते रहे होंगे। पंचतन्त्र⁷ में मिलने वाली परम्परा से ज्ञात होता है कि कौलिक या पट्टकारक⁸ मोटे तौर पर दो स्तरों के होते थे— एक तो वे जो अनेक प्रकार के महीन एवं सुन्दर वस्त्र राजाओं एवं विशिष्ट लोगों के लिए बनाते थे, और दूसरे वे जो मोटे वस्त्र बनाने वाले (स्थूलवस्त्रसम्पादनविज्ञानिनो....स्थूलपट्टकारकान्) सामान्य जुलाहे (सामान्यकौलिकाः) थे। इनके द्वारा बुने हुए मोटे सूती वस्त्र सामान्य लोगों के लिए रहे होंगे।

इस काल में आभूषण बनाने वालों (स्वर्णकार, मणिकार आदि) के शिल्पों में भी प्रगति दृष्टिगोचर होती है। अंगविज्जा में विभिन्न प्रकार के आभूषणों की सूचियाँ कई स्थलों पर मिलती हैं।⁹ तीसवें अध्याय (पृ० 162-63) में शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों के गहनों की सूचियाँ मिलती हैं। आभूषणों के नामों की इतनी बड़ी संख्या पहले के किसी ग्रन्थ में नहीं मिलती है। आभूषणों को यहाँ तीन वर्गों¹⁰ में विभक्त किया गया है :

-
1. जी०एल० आध्या, अर्ली इंडियन ईकोनॉमिक्स, पृ० 69.
 2. वही, पृ० 69. बाद के ग्रन्थ अमरकोश में रूई के चार प्रकारों का उल्लेख मिलता है।
 3. जी०एल० आध्या, वही, पृ० 70. पेरिप्लस में इसे गंगा के क्षेत्र से सम्बन्धित बताया गया है, वही पृ० 70.
 4. वही, पृ० 70.
 5. वही, पृ० 70.
 6. कोसेज्जवायका दिर्यडकंबलवायका कोलिका चेव विण्णया— अंगविज्जा, पृ० 161.
 7. पञ्चतन्त्र, सम्पादक एम०आर० काले, भाग 3, द्वितीय तंत्र, पृ० 25.
 8. पट्टकार शब्द रेशमी वस्त्र बुनने वालों के लिए भी प्रयुक्त होता था; वासुदेव शरण अग्रवाल, अंगविज्जा की भूमिका, पृ० 70.
 9. अंग विज्जा, पृ० 64-65, 71, 116, 162-63
 10. वही, पृ० 162.

(1) प्राणियों के शरीर के किसी भाग से बने हुए (पाणजोणीगत)– जैसे शंख, मुक्ता, हाथी-दाँत आदि के बने हुए;

(2) मूलजोणीगत– काष्ठ, पुष्प, फल, पत्र आदि के बने हुए;

(3) धातुजोणीगत– सुवर्ण, रूप्य (चाँदी), ताँबा, आरकुड¹, सर्वमणि, गोमेद, प्रवाल, रक्त क्षार मणि (तामड़ा) आदि के बने हुए। (यहाँ रत्नों को भी धातुयोनि के अन्तर्गत ही ले लिया गया है।)

रामायण में भी हम बहुत से आभूषणों एवं रत्नों के उल्लेख पाते हैं।² पुरातत्त्व के साक्ष्य से भी ज्ञात होता है कि द्वितीय शताब्दी ई०पू० से तृतीय शताब्दी का काल भारत में आभूषणों एवं रत्नों के इतिहास में बड़ा महत्त्वपूर्ण युग था।³ जिन पुरास्थलों से सोने, चाँदी, ताँबे, काँसे, शंख, शीशे एवं अल्पमूल्य-पत्थरों के आभूषणों के नमूने उत्तर भारत में मिले हैं वे निम्नलिखित हैं :- वैशाली, तक्षशिला (अब पाकिस्तान में), प्रभास पाटन (गुजरात), हस्तिनापुर (उत्तर प्रदेश), आहार (राजस्थान), उज्जैन (मध्य प्रदेश), एरण (मध्य प्रदेश), बड़ौदा (गुजरात), सोनपुर (बिहार), मथुरा (उत्तर प्रदेश), पाटलिपुत्र (बिहार), श्रावस्ती (उत्तर प्रदेश), ताम्रलिप्ति (पश्चिम बंगाल), कौशाम्बी (उत्तर प्रदेश) इत्यादि।⁴ इनके अतिरिक्त महाराष्ट्र, उड़ीसा, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु आदि के पुरास्थलों से भी उपर्युक्त आभूषणों के नमूने प्राप्त हुए हैं।⁵ तक्षशिला के सिरकप नगर की खुदाई से तामड़ा (गारनेट), गोमेद, अकीक (अगेट), संगयशब (जेड), लाजवर्द (लैपिस लेजुली) आदि दस प्रकार के अल्पमूल्य-रत्नों के नमूने मिले हैं।⁶ पर मौर्योत्तर काल से सम्बन्धित सोने और चाँदी के आभूषणों के नमूने बड़ी संख्या में पुरास्थलों से नहीं मिले हैं।⁷

-
1. वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार, आरकुड (आरकूट) फूल या कांसा था (अंगविज्जा, भूमिका, पृ० 72)। पर कांगले के अनुसार अर्थशास्त्र में आरकूट शब्द पीतल के लिए प्रयुक्त हुआ है; दि कौटिलीय अर्थशास्त्र, भाग 1 एवं 2, 2.12.23.
 2. बालकाण्ड-सर्ग 15.53; अयोध्याकाण्ड-सर्ग 9.32, 78; सुन्दरकाण्ड-सर्ग 9.10, 15; अरण्यकाण्ड-सर्ग 52; लंकाकाण्ड-सर्ग 65.
 3. एम०के० पाल, क्राफ्ट्स ऐण्ड क्राफ्ट्समेन इन ट्रडीशनल इंडिया, पृ० 86.
 - 4 एवं 5. एम०के० पाल, वही, पृ० 86-87.
 6. आध्या, अली इंडियन ईकोनॉमिक्स, पृ० 65.
 7. आर०एस० शर्मा, शू०ए०ई०, पृ० 198.

अंगविज्जा में मिट्टी का काम करने वालों के लिए 'कम्मजोणि' अध्याय (28) में दो शब्द मिलते हैं—कुम्भकार¹ और कुम्भकारिक²। एक ही सन्दर्भ में इस काम को करने वालों के लिए दो अलग-अलग शब्दों के प्रयोग से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये मिट्टी का काम करने वालों के मोटे तौर पर दो उपविभाग थे। सम्भवतः मुख्य रूप से कुम्भकारिक मिट्टी के घड़े बनाते थे और कुम्भकार मिट्टी से अन्य भाण्डों, मृण्मूर्तियों आदि का निर्माण करते थे। ईट पाथने वालों के लिए एक नया शब्द (इड्डकार)³ इस ग्रन्थ में मिलता है। भाजनों के प्रकारों की सूची में मिट्टी के भाजनों (मत्तिकामय)⁴ का भी एक अलग वर्ग उल्लिखित किया गया है।

इस ग्रन्थ में मिट्टी के तीस प्रकार गिनाये गये हैं।⁵ इनमें से कई प्रकार की मिट्टियाँ बर्तन बनाने और रंगने के काम आती थीं।⁶ इन सबसे यह स्पष्ट लगता है कि अंगविज्जा के काल में कुम्भकारों की संख्या तथा उनके श्रम के विशिष्टीकरण एवं कौशल में वृद्धि हुयी। मनुस्मृति (लगभग 200 ई०पू० से 200 ई०) में मिट्टी के भाण्डों पर छठा भाग कर लेने का विधान किया गया है।⁷ इससे कुम्भकारों की सामान्यतः अच्छी आर्थिक स्थिति एवं मिट्टी के भाण्डों के बड़े पैमाने पर उत्पादन पर प्रकाश पड़ता है। अंगविज्जा के काल में उत्खनन⁸ के साक्ष्य से भी कुम्भकार के शिल्प की समृद्धि पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। इस काल में भारत के प्रायद्वीपीय क्षेत्र के पुरास्थलों (अरिकामेडु आदि) से रोमन मृद्भाण्ड और उनके अनुकरण मिले हैं। सातवाहन साम्राज्य के कई पुरास्थलों से एक अन्य विशिष्ट प्रकार के मृद्भाण्ड उपलब्ध हुये हैं। उत्तरी भारत के अनेक पुरास्थलों से लाल पालिश किये हुए कुषाण मृद्भाण्ड के साथ-साथ पुरानी मृद्भाण्ड-परम्परा के भी अवशेष मिले हैं। इस लाल

1. अंगविज्जा, पृ० 160

2. वही, पृ० 161.

3. वही, पृ० 161 उस काल में नगरों के विकास के परिप्रेक्ष्य में ईंटों की आवश्यकता में वृद्धि हुयी होगी।

4. वही, पृ० 180. भाजनों के अन्य वर्ग भी थे— सुवण्णमय (सोने का भाजन), रूपमय (चांदी का भाजन), तंबमय (ताँबे का भाजन), कंसमय (कांसे का भाजन), काललोहमय (लोहे के भाजन) एवं सेलमय (पत्थर के भाजन); वही, पृ० 180.

5. अंगविज्जा, पृ० 359-60.

6. द्रष्टव्य, वासुदेव शरण अग्रवाल, अंगविज्जा, भूमिका, पृ० 84.

7. मनुस्मृति, 7.132. मिट्टी के भाण्डों के उल्लेख मनुस्मृति (8.289, 327) में भी मिलते हैं।

8. आर०एस० शर्मा, शू०ए०इ०, पृ० 198; कामेश्वर प्रसाद, सिटीस्, क्राफ्ट्स ऐण्ड कामर्स अन्डर दि कुषाणस्, पृ० 105 और आगे। कुषाण मृद्भाण्ड एवं मृण्मूर्तियाँ तक्षशिला, कौशाम्बी, मथुरा, श्रावस्ती, राजघाट, वैशाली, कुम्भार, चिरांद आदि से मिले हैं।

मृद्भाण्ड के समूह में काफी मृद्भाण्ड ऐसे भी मिलते हैं जो सुन्दर ढंग से अलंकृत हैं, और जो नगरों में रहने वाले विशिष्ट लोगों के उपयोग के लिए रहे होंगे। उत्खनन में कुषाण-सातवाहन काल के स्तरों से खपड़े (टाइल्स), रिंग वेल आदि बहुतायत से मिले हैं। इनके तथा अनेक प्रकार के मृद्भाण्डों के अतिरिक्त मिट्टी की मानव एवं पशु मूर्तियाँ, खिलौने आदि भी बड़ी संख्या में मिले हैं, जिनसे कुम्भकारों की मृण्मूर्तिकला के विकास का एक उच्च स्तर परिलक्षित होता है। इस प्रकार पुरातत्त्व के साक्ष्य से भी यह स्पष्ट है कि इस काल में कुम्भकारों के समुदाय का विस्तार हुआ एवं उनके कौशल में वृद्धि हुयी।

अंगविज्जा में शिल्पियों एवं कारीगरों के कुछ अन्य अभिधान मिलते हैं, जिनसे सम्बन्धित शिल्पों की उन्नति द्योतित होती है। ये हैं— उदकवड्ढकि (नाव या जहाज बनाने वाले)¹, वत्थुवापतिक (वास्तुव्यापृतक—वास्तुकर्म करने वाले)², रूपपक्खर (रूप—मूर्ति—का उपस्कार करने वाले)³, छत्तकारक (छत्र बनाने वाले), कम्बलवायक (ऊनी वस्त्र बुनने वाले)⁴, णीलीकारक⁵ (नील का काम करने वाले) आदि।

अंगविज्जा⁶ में चम्मकार शब्द एक ही स्थल पर आता है। पर चमड़े से बनी कई वस्तुओं के उल्लेख मिलते हैं, जैसे उपाणः⁷ (जूता), चम्मसाडी (चर्मवस्त्र)⁸, चम्ममय भाण्ड⁹, चम्मकोस (चर्म कोश—चमड़े के थैले)¹⁰ आदि। अंगविज्जा के काल के आस-पास के धर्मशास्त्र ग्रन्थ मनुस्मृति में चमड़े का काम करने वाले लोगों के तीन अभिधान मिलते हैं— (1) चर्मावकर्त्तिन¹¹ (चमड़ा काटने वाले), (2) कारावर चर्मकार¹² (कारावर

1. अंगविज्जा, भूमिका, पृ० 69. इस ग्रंथ में दो प्रकार के बड़े जहाजों (नाव एवं पोत), पांच प्रकार की मझले आकार की नावों और पांच प्रकार के छोटे जलीय वाहनों के नाम मिलते हैं (अंगविज्जा, भूमिका, पृ० 73)। इनसे उस काल में समुद्री व्यापार तथा नदियों द्वारा जलीय व्यापार की उन्नति पर प्रकाश पड़ता है।
2. वही, पृ० 70.
3. अंगविज्जा, पृ० 161; वही, भूमिका (वासुदेव शरण अग्रवाल), पृ० 71. मोतीचन्द्र के अनुसार ये उत्कीर्ण-शिल्प के कारीगर थे (वही, भूमिका, पृ० 48)।
4. वही, पृ० 71. कम्बलवायक का समीकरण कम्बलकारक से किया जा सकता है, जिसका अर्थ ऊनी वस्त्र बुनने वाला है (मोनियर विलियम्स, ए संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० 252)।
5. अंगविज्जा, पृ० 92.
6. वही, पृ० 161.
7. वही, पृ० 193.
8. वही, पृ० 221, 230.
9. वही, पृ० 221.
10. वही, पृ० 216, 222.
11. मनुस्मृति, 4 218.
12. वही, 10.36.

संज्ञक चर्मकार जाति), (3) धिग्वण¹ (धिग्वण संज्ञक 'चर्मकार्य' करने वाले)। (अन्तिम दोनों मिश्रित जाति के बताये गये हैं।) विवेकानन्द झा² के अनुसार, चर्मकारों के लिए तीन अभिधान मिलना उनके शिल्प के महत्त्व का सूचक है और इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि उनके उपजाति-समूह भी बन गये थे। अंगविज्जा में शराब बनाने वालों एवं तेल तैयार करने वालों के समुदायों के लिए स्पष्ट अभिधान महावस्तु की भाँति नहीं मिलते हैं। पर इस ग्रन्थ में सुरा³ एवं तेल⁴ के प्रकारों की जितनी लम्बी सूचियाँ मिलती हैं उतनी पहले के ग्रन्थों में नहीं उपलब्ध होती हैं।

मौर्योत्तर काल में ही हमें पहले-पहल शिल्पियों एवं उनकी श्रेणियों के सम्बन्ध में अभिलेखों के साक्ष्य उपलब्ध होते हैं। ये ब्राह्मी अभिलेख⁵ बड़ी संख्या में मथुरा, श्रावस्ती, गया, भरहुत, सांची, कन्हेरी (मुम्बई के पास सालसेट में), नासिक, कुडा (पश्चिमी दकन के क्षेत्र में), जुन्नर एवं कार्ले (महाराष्ट्र के पुणे जिले में), पितलखोरा (महाराष्ट्र के औरंगाबाद जिले में), जगय्यपेट एवं अमरावती (दकन के पूर्वी भाग में) आदि से प्राप्त हुए हैं। इनमें विभिन्न प्रकार के शिल्पियों एवं कारीगरों अथवा/एवं उनके परिवार के सदस्यों द्वारा मुख्य रूप से बौद्ध एवं जैन संघों को दिये गये गुफाओं (लेण), स्तम्भों (खम्भ), शिलापट्टों, कुण्डों (पानियक, पोढी), मूर्तियों आदि के धार्मिक दानों एवं समर्पणों के उल्लेख मिलते हैं। ये शिल्पी एवं कारीगर, जिनमें से अधिकांश के उल्लेख उपर्युक्त साहित्यिक स्रोतों में भी मिलते हैं, निम्नवत हैं :

गन्धिक- मथुरा से प्राप्त ब्राह्मी अभिलेखों में से कम से कम तीन ऐसे हैं जिनमें दान देने के सन्दर्भ में गन्धिकों के उल्लेख मिलते हैं।⁶ दो अमरावती बौद्ध स्तम्भ-लेखों⁷, कार्ले बौद्ध गुफा-लेख⁸ एवं पितलखोरा बौद्ध स्तम्भ-लेख⁹ से भी गन्धिकों के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है। इन उल्लेखों से गन्धिकों के एक समृद्ध शिल्प-समुदाय के अस्तित्व का पता चलता है।

-
1. वही, 10.49.
 2. विवेकानन्द झा, 'लेदर वर्क्स इन एन्शेंट ऐण्ड अर्ली मेडीवल इंडिया', ब्रज दुलाल चट्टोपाध्याय (सम्पादक), एसेस इन एन्शेंट इंडियन ईकोनॉमिक हिस्ट्री, पृ० 123
 3. अंगविज्जा, परिशिष्ट 5, पृ० 355.
 4. वही, पृ० 356-57
 5. एपि०इ०, जिल्द 10, लूडर्स लिस्ट; बैजनाथ पुरी, "सम ऐस्पेक्ट्स आफ ईकोनॉमिक लाइफ इन दि कुषाण पीरियड", इंडियन कल्चर, जिल्द 12, पृ० 82-87.
 6. इंडियन कल्चर, जिल्द 12, पृ० 84.
 7. लूडर्स लिस्ट, सं० 1210, 1230.
 8. वही, सं० 1090.
 9. वही, सं० 1187

हिरण्यकार या सुवर्णकार- एक ब्राह्मी अभिलेख¹ में हिरण्यकार (सोने का काम करने वाले सुवर्णकार) का उल्लेख मिलता है। मथुरा (कंकाली टीला) से प्राप्त एक अभिलेख² में सोवणिक (सौवर्णिक) का उल्लेख है, पर यह सोने का व्यापारी रहा होगा। कन्हेरी बौद्ध गुफा-लेख³ एवं जुन्नर बौद्ध कुण्ड (पोढी)⁴ लेख में भी सुवर्णकारों के दानों के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

लोहकारक- मथुरा से प्राप्त दो अभिलेखों में से एक में लोहिकाकारक⁵ के और दूसरे में लोहिककारक⁶ के दान के उल्लेख मिलते हैं। ये लोहकार ही लगते हैं। पर लूडर्स के अनुसार ये धातु का काम करने वाले थे : इस मत को मानने पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये लोहे का ही काम करते थे। उपर्युक्त प्रथम, अभिलेख में लोहिकाकारक को 'गोट्टिक' (किसी गोष्ठी या कमेटी का सदस्य) बताया गया है। मथुरा से मिले एक अन्य अभिलेख⁷ में एक लोहकार की पत्नी मित्रा, जो एक मणिकार की पुत्री थी, के दान का उल्लेख मिलता है। यह लोहकार सम्भवतः लोहे का ही काम करने वाला रहा होगा। कन्हेरी गुफा अभिलेख⁸ में एक 'कमार' (कर्मार) के दान का उल्लेख मिलता है, जो लूडर्स के अनुसार लोहे का ही काम करने वाला था।

कांस्यकार (कांस्य का काम करने वाले)- अन्य सामान्य धातुओं का काम करने वालों में कांस्यकारों (कासाकार) का उल्लेख जुन्नर बौद्ध गुफा अभिलेख⁹ में मिलता है। इस लेख में इनकी श्रेणी में धन निवेश करने की बात मिलती है। जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है, मौर्योत्तर काल के प्रमुख साहित्यिक स्रोतों में कांस्यकारों को नगर में रहने वाले शिल्पियों की सूची में परिगणित किया गया है।

1. एपि० इ०, जिल्द 2, सं० 23, पृ० 205

2. लूडर्स लिस्ट, सं० 95

3. वही, सं० 986.

4. वही, सं० 1177.

5. लूडर्स लिस्ट, सं० 53.

6. वही, सं० 54.

7. एपि० इ०, जिल्द 1, संख्या 4, पृ० 383; इंडियन कल्चर, जिल्द 12, पृ० 83.

8. लूडर्स लिस्ट, सं० 1032.

9. वही, सं० 1165

मणिकार- मणिकार का उल्लेख मथुरा से प्राप्त एक अभिलेख¹ में मिलता है। कन्हेरी बौद्ध गुफा-अभिलेख² में भी सपरिवार एक मणिकार द्वारा एक गुफा (लेण) के दान का उल्लेख मिलता है।

जुलाहे या बुनकर- भिलसा से प्राप्त एक अभिलेख³ में दमक नामक एक बुनकर (सोतिक) द्वारा दिये गये दान का उल्लेख मिलता है। उषवदात के नासिक बौद्ध गुफा-अभिलेख⁴ में गोवर्धन में जुलाहों की दो श्रेणियों (श्रेणि, कोलिकनिकाय) में धन निवेश करने का तथ्य लिपिबद्ध किया गया है।

वर्धकि (बढ़ई)- कुषाण संवत् के 12वें वर्ष के एक अभिलेख⁵ में वर्धकि (वढिक) समुदाय की एक स्त्री द्वारा दिये गये दान का उल्लेख मिलता है। एक कार्ले बौद्ध स्तम्भ-अभिलेख⁶ में 'धेनुकटक'-निवासी एक बढ़ई (वढकि) द्वारा गुफा का द्वार निर्मित करने का उल्लेख मिलता है।

शैलवर्धकि एवं रूपकार- प्रस्तर से निर्माण-कार्य करने वाले राजगीरों के समुदाय के लिये कन्हेरी बौद्ध गुफा-अभिलेख⁷ में सेलवढकिन् (शैलवर्धकिन्) शब्द मिलता है। एक अन्य अभिलेख⁸ में भी सेल-वढकी का उल्लेख मिलता है। मौर्योत्तर काल में प्रस्तर-शिल्प की विशेष प्रगति दृष्टिगोचर होती है।⁹ इसी के क्रम में वर्धकि शब्द, जो पहले लकड़ी का काम करने वाले बढ़इयों के लिए ही प्रयुक्त होता था, के साथ सेल (शैल = प्रस्तर) विशेषक जोड़कर प्रस्तर पर काम करने वाले राजगीरों के लिए एक नया अभिधान बना लिया गया।¹⁰

1. एपि० इ०, जिल्द 1, सं० 4, पृ० 383; इंडियन कल्चर, जिल्द 12, पृ० 83.
2. लूडर्स लिस्ट, सं० 1005. मणिकार के शिल्प का इस दृष्टि से काफी महत्त्व था कि भारत से रत्नों का निर्यात ईसवी सन् की प्रथम दो शताब्दियों में विदेशों को भी किया जाता था। माइकल लोवे, जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, नं० 2 (1971), पृ० 176; उद्धृत द्वारा राम शरण शर्मा, शू० ए० इ०, पृ० 195 पादटिप्पणी 5.
3. लूडर्स लिस्ट, सं० 331.
4. वही, सं० 1133
5. इंडियन कल्चर, जिल्द 12, पृ० 85.
6. लूडर्स लिस्ट, सं० 1092.
7. वही, सं० 987.
8. एपि० इ०, जिल्द 20, पृ० 22 (अभिलेख 'एफ', पंक्ति 4)
9. तुलनीय आर०एन० मिश्र, एन्शेंट आर्टिस्ट्स ऐण्ड आर्ट ऐक्टिविटी, पृ० 10 और आगे।
10. आर०एन० मिश्र के अनुसार, अभिलेखों के साक्ष्य से संकेत मिलता है कि शिल्पियों का यह समुदाय द्वितीय शताब्दी ई०पू० तक अस्तित्व में आ चुका था; वही, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 15. इनके अनुसार, मथुरा के एक अभिलेख (लूडर्स लिस्ट, सं० 85) में मिलने वाला 'सैललक' शब्द भी इन्हीं शिल्पियों के लिए प्रयुक्त होता था। लूडर्स ने इसका अर्थ अभिनय करने वाला बताया है, जो संदर्भ से मेल नहीं खाता है।

आर० एन० मिश्र के अनुसार शैलवर्धकि शब्द मूर्तिकार के लिये भी प्रयुक्त होता है।¹ पर मूर्तिकार के लिए भरहुत से प्राप्त एक रेलिंग-लेख² में एक अलग शब्द रूपकारक भी मिलता है। श्रावस्ती से प्राप्त एक अभिलेख³ से ज्ञात होता है कि प्रस्तर की मूर्तियाँ बनाने वालों को शेलरूपकार (शैलरूपकार) भी कहते थे। इस अभिलेख में मथुरा के मूर्तिकार द्वारा (माथुरेण शेलरूपकारेण शिवमित्रेण) एक मूर्ति के निर्माण का उल्लेख मिलता है। इससे यह संकेत मिलता है कि इस काल में मथुरा अपने मूर्तिकारों के लिए प्रसिद्ध हो गया था। रामगढ़ (जोगीमारा गुफा) से प्राप्त एक अभिलेख में मूर्तिकार के लिए लूपदख⁴ (रूपदक्ष) शब्द मिलता है। जगय्यपेट से प्राप्त कुछ अभिलेखों⁵ में अवेसनि या अवेसणि (आवेशनिन्) शब्द शिल्पी के लिए मिलते हैं। ये शिल्पी विशेष-दक्षता-प्राप्त एवं प्रस्तर-शिल्प से सम्बन्धित लगते हैं।⁶

दन्तकार— एक सांची अभिलेख⁷ में मिलता है कि वहाँ विदिसा के एक दन्तकार (हाथी-दाँत का काम करने वाले) ने रूपकम्म (उत्कीर्ण-शिल्प) का कार्य सम्पन्न किया था। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि विदिसा दन्तकारों के शिल्प के लिए प्रसिद्ध था।⁸

उपर्युक्त शिल्पियों एवं कारीगरों के अतिरिक्त अन्य के उल्लेख भी अभिलेखों में मिलते हैं, जिनमें से कुछ की श्रेणियों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। राजन् माढरिपुत्र ईश्वरसेन के समय के एक नासिक गुफा-लेख⁹ में एक उपासिका विष्णुदत्ता द्वारा एक विहार के बौद्ध भिक्षुसंघ के लिए कुम्भकारों (कुलरिक), जल-यन्त्र का निर्माण करने वालों (ओदयन्त्रिक)¹⁰ एवं तैलिकों (तिलपिषक) की श्रेणियों में स्थायी निधि के रूप में धन-

1. आर० एन० मिश्र, ऊपर उद्धृत, पृ० 10

2. लूडर्स लिस्ट, सं० 857. वर्धकि-रूपकार का उल्लेख महावस्तु में भी मिलता है; द्रष्टव्य ऊपर।

3. आर्किअलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया, ऐनुअल रिपोर्ट, 1908-9, पृ० 133 एवं आगे; इंडियन कल्चर, जिल्द 12, पृ० 86

4. लूडर्स लिस्ट, सं० 921; आर० एन० मिश्र, ऊपर उद्धृत, पृ० 16.

5. लूडर्स लिस्ट, सं० 1202, 1203, 1204.

6. आर० एन० मिश्र, ऊपर उद्धृत, पृ० 20-1.

7. लूडर्स लिस्ट, सं० 345.

8. बैजनाथ पुरी, इंडियन कल्चर, जिल्द 12, पृ० 86. 200 ई०पू० से लेकर 300 ई० तक के काल की हाथी-दाँत की बनी वस्तुओं (कंघी, कड़ा, अलंकृत फलक, मानव और पशु मूर्तियाँ आदि) के जो पुरातात्विक साक्ष्य मथुरा, बेग्राम (प्राचीन कपिशा-आधुनिक काफिरिस्तान) आदि से उपलब्ध हुए हैं उनसे यह लगता है कि इस काल में दन्तकार की हाथी-दाँत पर उत्कीर्ण करने की कला में विशेष प्रगति हुयी। द्रष्टव्य एम०के० पाल, क्राफ्ट्स ऐण्ड क्राफ्ट्समेन इन ट्रेडिशनल इंडिया, पृ० 47, 48.

9. लूडर्स लिस्ट, सं० 1137.

10. ओदयन्त्र (जल-यन्त्र) के अन्तर्गत ऐसे संयन्त्र भी रहे होंगे, जिनसे सिंचाई आदि के लिए पानी ऊपर निकाला जाता था : राम शरण शर्मा, लाइट आन अर्ली इंडियन सोसाइटी ऐण्ड इकॉनमी, पृ० 101. अर्थशास्त्र (2.24.18— स्रोतो-यन्त्रप्रावर्तिमं) में भी इस प्रकार के यन्त्रों का उल्लेख मिलता है।

निवेश करने का उल्लेख किया गया है। इससे स्पष्ट है कि उस क्षेत्र में इन तीनों प्रकार के शिल्पियों की अपनी-अपनी समृद्ध श्रेणियाँ थीं। जुन्नर बौद्ध गुफा अभिलेख¹ में कासाकार (कांस्यकार) की श्रेणी के अतिरिक्त बाँस का काम करने वालों (वसकर) की श्रेणी में भी धन-निवेश करने का उल्लेख है। मथुरा (कंकाली टीला) से प्राप्त एक अभिलेख² में एक रयग (रजक = रंगरेज) की स्त्री (रयगिनी) द्वारा एक जैन प्रतिमा के दान का उल्लेख मिलता है। अमरावती के एक अभिलेख³ में एक चर्मकार (चम्मकार) द्वारा एक पटिया के धार्मिक दान का उल्लेख किया गया है। कुडा से प्राप्त दो बौद्ध अभिलेखों में मालाकारों (मालियों) द्वारा दिये गये दानों के उल्लेख हैं। एक अभिलेख⁴ से ज्ञात होता है कि एक माली ने गुफा (लेण) का दान किया था। दूसरे⁵ में एक मालाकार द्वारा एक कुण्ड (पोढी) का दान किये जाने का उल्लेख मिलता है। एक अभिलेख⁶ में नामसहित एक राजनापित का उल्लेख है, जो बैजनाथ पुरी⁷ के अनुसार, उस नापित का साइनबोर्ड रहा होगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मौर्योत्तर काल में विभिन्न शिल्पों के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई। मौर्य काल में अर्थव्यवस्था पर जो नियन्त्रण स्थापित किया गया था वह मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् जो नए राज्य बने उनमें काफी कमजोर हो गया था। इस प्रकार राज्य का कठोर नियन्त्रण शिथिल होने की स्थिति में शिल्पियों एवं उनकी श्रेणियों को, अन्य अनुकूल परिस्थितियों के उत्पन्न होने के साथ-साथ, प्रगति एवं विकास का विशेष अवसर मिला। अन्य अनुकूल परिस्थितियों के अन्तर्गत इस काल में आन्तरिक एवं बाह्य व्यापार में प्रगति, सिक्कों के अधिक प्रचलन तथा नगरों एवं नगर-जीवन के विकास थे। इस काल में उत्तर पश्चिमी और पश्चिमी भारत में यूनानियों, शकों, पार्थियनों और कुषाणों की सत्ता का राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित हुआ तथा रोम साम्राज्य के साथ व्यापारिक सम्बन्धों का विकास हुआ।⁸

जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है, महत्त्वपूर्ण शिल्पों में तकनीकी प्रगति एवं विस्तार के साथ शिल्पियों के समुदायों एवं उनके क्रिया-कलापों में विस्तार हुआ। साहित्यिक स्रोतों के अतिरिक्त इस काल के अभिलेखों में भी हिरण्यकार या सुवर्णकार, गन्धिक, लोहकार, कांस्यकार, मणिकार, जुलाहे या बुनकर, वर्धकि (बढ़ई),

1. लूडर्स लिस्ट, सं० 1165.

2. लूडर्स लिस्ट. बैजनाथ पुरी ने रयग का अर्थ धोबी ग्रहण किया है; इण्डियन कल्चर, जिल्द 12, पृ० 85.

3. लूडर्स लिस्ट, सं० 1273

4. वही, सं० 1051.

5. वही, सं० 1061.

6. जर्नल आफ यू०पी० हिस्टोरिकल सोसाइटी, जुलाई, 1937, सं० 3, पृ० 3.

7. वही, ऊपर उद्धृत, पृ० 85.

8. किरन कुमार थपल्लाल, गिल्ड्स इन एन्शेंट इण्डिया, पृ० 30.

शैलवर्धक (प्रस्तर से निर्माण-कार्य करने वाले राजगीर), रूपकारक (मूर्तिकार), दन्तकार (हाथी-दाँत का काम करने वाले), कुलरिक (कुम्भकार), ओदयन्त्रिक (जल-यन्त्र का निर्माण करने वाले), तिलपिषक (तैलिक), बसकर (बांस का काम करने वाले), रयग (रजक-रंगरेज), मालाकार आदि के नाम मिलते हैं।¹ इनमें से बहुतों के द्वारा दिए गये धार्मिक दानों के उल्लेख भी इन अभिलेखों में प्राप्त होते हैं।² कांस्यकारों, जुलाहों, कुम्भकारों, तैलिकों आदि की श्रेणियों में धन निवेश करने के उल्लेख भी कुछ अभिलेखों में मिलते हैं।³ इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये शिल्पी एवं उनसे सम्बन्धित शिल्प काफी समृद्ध हो गये थे। जो धन उनकी श्रेणियों में जमा किया जाता था, उसके द्वारा वे शिल्प के उपकरण एवं कच्चा माल खरीद सकते थे तथा अपने द्वारा निर्मित वस्तुओं की बिक्री से प्राप्त धन में से अपनी श्रेणियों में निवेश किये हुए धन पर सूद भी दे सकते थे।⁴ इस काल में शिल्पियों की समृद्धि के बढ़ने में सिक्कों के अधिक प्रचलन की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। बौद्ध ग्रन्थों में राजगृह और शाकल शिल्प एवं कारीगरी के मुख्य केन्द्र बताये गये हैं। पर अभिलेखों से ज्ञात होता है कि अधिकतर शिल्पी मथुरा क्षेत्र और पश्चिमी दकन के क्षेत्र— जहाँ उनकी समृद्धि रोम के साथ बढ़ते हुए व्यापार के कारण बढ़ी थी— से सम्बन्धित थे।⁵ मनुस्मृति⁶ एवं याज्ञवल्क्य स्मृति के साक्ष्य से भी यह ज्ञात होता है कि ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में व्यापारियों एवं शिल्पियों की श्रेणियों का काफी विकास हुआ। श्रेणी-संगठन के विकास का प्रमाण याज्ञवल्क्य स्मृति (100 ई० से 300 ई० के बीच)⁷ में अधिक उपलब्ध होता है।⁸

मौर्योत्तर काल में भी पहले⁹ की भाँति नगरों के शिल्पियों एवं कारीगरों के अतिरिक्त ग्रामशिल्पी भी थे, जिनकी संख्या का उल्लेख पहले-पहल हमें पतंजलि (द्वितीय शताब्दी ई०पू० के मध्य) के महाभाष्य में मिलता है। महाभाष्य के अनुसार, ब्राह्मण-ग्राम में पंचकारुकी¹⁰ (पाँच कारुकी या शिल्पी) भी रहते थे। इन पाँचों को बाद के काल के वैयाकरण नागेश¹¹ की महाभाष्य की टीका में निम्नवत् गिनाया गया है :—

1, 2 एवं 3. द्रष्टव्य ऊपर।

4 एवं 5. तुलनीय राम शरण शर्मा, लाइट आन अर्ली इण्डियन सोसाइटी ऐण्ड इकॉनमी, पृ० 76.

6. मनुस्मृति (8.41) में हमें श्रेणीधर्म (श्रेणी के व्यवस्थित नियम) का उल्लेख मिलता है।

7. पाण्डुरंग वामन काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जिल्द 2, भाग 1, पृ० 11.

8. द्रष्टव्य आगे, अध्याय 2.

9. द्रष्टव्य ऊपर।

10. अष्टाध्यायी, 1.1.48 पर पतंजलि का महाभाष्य। वासुदेव शरण अग्रवाल, इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० 229.

11. वही, पृ० 229.

(1) कुम्भकार, (2) लोहार, (3) बढई, (4) नाई एवं (5) धोबी। इनमें से नाई एवं धोबी सेवा-शिल्प से सम्बन्धित थे। इन ग्राम-शिल्पियों की स्थिति नगर-शिल्पियों की अपेक्षा काफी निम्न थी। इन्हें ग्राम के निवासियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के दायरे में ही अपना शिल्प-कार्य करना पड़ता था। सामान्य मिश्रित आबादी वाले ग्रामों में रहने वाले इन ग्राम-शिल्पियों के श्रेणि-संगठन नहीं होते थे।¹

1. आनन्द के० कुमारस्वामी के अनुसार, ऐसे ग्रामशिल्पी, इस दृष्टि से, एकाकी (alone) होते थे; दि इण्डियन क्राफ्ट्समैन, पृ० 43.

गुप्तकाल में पहले से चले आ रहे शिल्पों की परम्परा में प्रगति एवं विस्तार दृष्टिगोचर होते हैं। धातुओं के विस्तृत ज्ञान एवं शिल्पोत्पादन में विशिष्ट तकनीक के प्रयोग के साक्ष्य हमें अमरकोश¹ में मिलते हैं। इसमें लोहे के सात नाम बताये गये हैं— लोह, शस्त्रक, तीक्ष्ण, पिण्ड, कालायस, अयसी एवं अश्मसार। इसी सन्दर्भ में दो नाम— मण्डूर एवं सिंहाण— लोहे के मल के बताये गये हैं² तथा कुशी³ शब्द पिटवाँ लोह (wrought iron) के लिए मिलता है।

अमरकोश में लोहकार के लिए दो शब्द मिलते हैं— लोहकारक एवं व्योकार। ये लोहकार सामान्य जीवन के बहुत से उपयोगी उपकरणों को बनाते थे, जिनमें फावड़ा या कुदाल (खनित्र), हंसिया (दात्र, लवितृ) आदि कृषि के उपकरण मुख्य थे। इसी कोश में पाँच⁴ नाम लोहे के फाल के लिए दिये गये हैं, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कृषि के विस्तार के साथ-साथ उसके इस महत्वपूर्ण उपकरण की माँग की आपूर्ति लोहकार लोगों के प्रमुख कार्यों में से थी। कृषि के उपकरणों एवं युद्ध के हथियारों के अतिरिक्त भी लोहकार ताला⁵, लोहे की चद्दरे⁶, लोहे के बर्तन⁷ आदि बनाते थे, जिसकी विशेष जानकारी हमें पुरातात्विक साक्ष्यों से मिलती है। शस्त्रसाज लोहकारों के लिए दो शब्द (शस्त्रमार्ज एवं असिधावक) अलग से दिये गये हैं।⁸ ये लोहे के काम करने वाले शस्त्र-निर्माण से सम्बन्धित थे। लोहकारों द्वारा बनाये जाने वाले युद्ध के हथियारों में लोहे के बाण (नाराच), खड्ग, करवाल, कृपाण, कुठार, परशु, छुरिका, शल्य, कुन्त आदि का उल्लेख अमरकोश में मिलता है।⁹ चन्द्र के मेहरौली स्तम्भ से यह स्पष्ट है कि लोहे के काम का तकनीकी ज्ञान गुप्त काल में काफी ऊँचे स्तर पर पहुँच गया था। इसकी सराहना करते हुए पर्सी ब्राउन¹⁰ ने इसे भारतीय लोहकारों की प्रतिभा एवं शिल्प-कौशल का अद्भुत प्रतीक माना है।

2.

1. अमरकोश (नामलिङ्गानुशासन, क्षीरस्वामी की टीका सहित), सम्पादक हर दत्त शर्मा एवं एन० जी० सरदेसाई, पूना, 1947, 29.98.

2. वही।

3. वही, 29.99

4. फल, निरीष, कुटक, फाल एवं कृषक— वही, 29.13.

5. आर्किअलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट, 1911-12, पृ० 91.

6. वही, पृ० 92.

7. वही, पृ० 92

8. अमरकोश, 2.10.7.

9. वही, 2.8.88-94.

10. इण्डियन आर्किटेक्चर (बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू), पृ० 61.

स्वर्णकार के शिल्प में भी इस काल में विकास हुआ। इस शिल्प की उपयोगिता समाज के समृद्ध वर्ग के लिए ही विशेष रूप से थी। अमरकोश में स्वर्ण के लिए 19 पर्यायवाची शब्द मिलते हैं। चार पर्यायवाची शब्द स्वर्णकार के लिए मिलते हैं।¹ इसी प्रकार अन्य धातु-शिल्पों में भी विस्तार हुआ एवं उनके तकनीकी कौशल में प्रगति हुयी। इसका अनुमान अमरकोश में मिलने वाले धातुओं के पर्यायवाची शब्दों से लगाया जा सकता है। इस कोश में चाँदी के लिए पाँच शब्द (दुर्वर्ण, रजत, रूप्य, खर्जूर, श्वेत)², पीतल के लिए दो शब्द (रीति, आरकूट), ताँबे के लिए छः शब्द (ताम्र, शुल्ब, म्लेच्छमुख, द्वयष्ट, वरिष्ठ, उदुम्बर)³, और ताँबे का काम करने वालों के लिए सौल्विक एवं ताम्रकुट्टक दो शब्द मिलते हैं।⁴ सीसा⁵ (सीसक) के लिए चार शब्द एवं टिन (त्रपु)⁶ के लिए दो शब्द मिलते हैं। शीशा⁷ के लिए भी दो शब्द (क्षार, काँच) मिलते हैं।

अमरकोश में सभी धातु-शिल्पियों या धातु-कर्मियों के नाम नहीं मिलते हैं। उदाहरणार्थ, पहले के ग्रन्थों-मिलिन्दपञ्चो और महावस्तु- में सीसे का शिल्प करने वालों के लिए सीसकार⁸ शब्द मिलता है : महावस्तु में टिन का काम करने वाले त्रपुकार⁹ कहे गये हैं। अमरकोश में केवल लोहे, सोने एवं ताँबे के काम करने वाले शिल्पियों के ही अलग-अलग अभिधान मिलते हैं।¹⁰

वराहमिहिर की बृहत्संहिता (पाँचवीं-छठी शताब्दी)¹¹ में सोने का काम करने में स्वर्णकारों द्वारा अपनायी जाने वाली प्रक्रियाओं-गलाने (द्रुत-कनक)¹², आग में गरम करने (सन्ताप¹³, परिताप¹⁴), आदि- के उल्लेख मिलते हैं। सभी धातु-कर्मों आग में धातु को गरम करते थे। इसीलिए इन सब को बृहत्संहिता में अनलजीविन् (85.29), अनलोपजीविन् (5.69), हुताशवृत्ति (5.53), हुताशजीविन् (16.12) आदि कहा गया

1. अमरकोश, 2 10.8

2. वही, 2.9.96.

3. वही, 2.9.97.

4. वही, 2 10.8.

5. वही, 2.9.10.

6. वही, 2.9.10.

7. वही, 2.9.99.

8. द्रष्टव्य ऊपर।

9. द्रष्टव्य ऊपर।

10. द्रष्टव्य ऊपर।

11. अजयमित्र शास्त्री, इण्डिया ऐज सीन इन दि बृहत्संहिता आफ वराहमिहिर, पृ० 16.

12. बृहत्संहिता, जिल्द 1, 28.3.

13. वही, जिल्द 1, पृ० 63.

14. वही, 3.36.

है। वात्स्यायन के कामसूत्र (1.3.16) में 64 कलाओं के अन्तर्गत धातुवाद का भी उल्लेख मिलता है। यहाँ धातुवाद धातु-परीक्षा¹ या धातु-विज्ञान प्रतीत होता है।

गुप्त काल में हीरा आदि बहुमूल्य पत्थरों, मोती, मूँगा, शंख आदि को आभूषणार्थ तराशने के शिल्पों का भी विकास हुआ।² वराहमिहिर ने बृहत्संहिता (अध्याय 80-83) में हीरा, मोती और माणिक के विभिन्न प्रकारों की गुणवत्ता तथा उनके तोल एवं मूल्यों का उल्लेख किया है। अमरकोश (2.9.92-93) में भी हरिन्मणि (emerald), शोणरत्न, लोहितक, पद्मराग (ruby), मुक्ता, प्रवाल, शंख आदि के उल्लेख मिलते हैं।³

इस कोश (2.10.8) में शांखिक एवं काम्बविक शब्द शंख के शिल्पी के लिए मिलते हैं। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शंख के बने आभूषणों का प्रचलन समाज में व्यापक रूप में था। वराहमिहिर की बृहत्संहिता में हाथी-दाँत की बनी वस्तुओं (नागदन्तक, 52.60; दन्तघटित, 86.9) के उल्लेख मिलते हैं, पर दन्तकार (हाथी-दाँत की वस्तुएँ बनाने वाले) का उल्लेख नहीं है। अमरकोश में भी यह शब्द नहीं मिलता है। पर पहले के काल के ग्रन्थों में दन्तकार के उल्लेख मिलते हैं (द्रष्टव्य ऊपर)। सचीन्द्र कुमार मैती के अनुसार हाथी-दाँत का उद्योग गुप्तकाल में काफी विकसित स्थिति में था।⁴ पर पुरातात्विक साक्ष्य के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि चौथी शताब्दी से आठवीं शताब्दी के मध्य के काल में पहले के काल की भाँति हाथी-दाँत के शिल्प में उन्नति नहीं हुयी।⁵ इस काल की हाथी-दाँत की वस्तुओं में मुख्यतः अंगूठियाँ, खिलौने, पेटिकाएँ, मुहरें आदि प्राप्त हुयी हैं।⁶

सामान्य लोगों के लिए लोहे आदि सामान्य धातुओं के उपकरणों के अतिरिक्त मिट्टी की बनी वस्तुओं का विशेष महत्त्व था। मिट्टी की बनी वस्तुओं की जानकारी मुख्य रूप से पुरातात्विक स्रोतों से ही होती है। इस काल में मिट्टी की वस्तुओं को ढालने, रंगने, पकाने आदि में कुम्हारों के विशिष्ट कौशल एवं दक्षता का परिचय मिलता है। अहिच्छत्रा से मिले मिट्टी के बर्तन चाक से बने और ढले हुए, दोनों प्रकारों के मिलते हैं।⁷ राजघाट, अहिच्छत्रा, भीटा, बसाढ़ आदि से मिट्टी के कई प्रकार के बर्तनों के अतिरिक्त मिट्टी की मूर्तियाँ, मुहरें एवं मनके

1. ए० एस० अल्लेकर, एजूकेशन इन एन्शेंट इण्डिया, पृ० 331.

2. सचीन्द्र कुमार मैती, ईकोनॉमिक लाइफ आफ़ नार्दर्न इण्डिया इन दि गुप्त पीरियड, पृ० 140.

3. वही, पृ० 140.

4. वही, पृ० 140.

5. एम० के० पाल, क्राफ्ट्स एण्ड क्राफ्ट्समेन इन ट्रेडीशनल इण्डिया, पृ० 49.

6. वही, पृ० 49.

7. ए० घोष एवं पानिग्रही, एन्शेंट इण्डिया, जिल्द 1, 1946, पृ० 41. इस काल के विशिष्ट मृदभाण्ड को पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने 'रेड वेअर' की संज्ञा दी है— वही।

भी बड़ी संख्या में मिले हैं।¹ कुम्हार देवी-देवताओं की मूर्तियों के अतिरिक्त मानव-मूर्तियाँ एवं पशु-मूर्तियाँ तथा खिलौने भी बनाते थे।² मिट्टी की पकायी ईंटों के अनेक साक्ष्य उत्खननों से प्राप्त हुए हैं।³ कुम्हार के लिए अमरकोश (2.10.6) में दो शब्द मिलते हैं— कुम्भकार एवं कुलाल। वराहमिहिर की बृहत्संहिता में इसके लिए घटकार⁴, घटकृत्⁵, चाक्रिक⁶ (चक्र या चाक पर काम करने वाला) एवं चक्रधर शब्द मिलते हैं।⁷

गुप्त-वाकाटक युग एवं बाद का काल प्रस्तर-शिल्प से सम्बन्धित स्थापत्य एवं मूर्तिकला के विकास की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण था।⁸ इसी के साथ-साथ प्रस्तर-शिल्प में लगे वास्तुकारों, संगतराशों, मूर्तिकारों आदि के क्रिया-कलाप एवं संख्या में विस्तार तथा उनकी दक्षता में वृद्धि का होना स्वाभाविक था। पाँचवीं और छठी शताब्दी के बीच मथुरा एवं सारनाथ की परम्पराओं में प्रस्तर-मूर्तिकला की विशेष प्रगति परिलक्षित होती है।⁹ गुप्त काल के पुरातात्विक अवशेषों से यह पता चलता है कि इस काल में निर्माण-कार्यों में प्रस्तर के उपयोग का विशेष विकास एवं विस्तार हुआ।¹⁰

अमरकोश (2.10.5) में कारु एवं शिल्पी के अन्तर्गत प्रस्तर-शिल्प से सम्बन्धित शिल्पियों को समाहित किया गया है। पर इस कोश के नानार्थ वर्ग में स्थपति शब्द कारु के एक प्रकार के अर्थ में भी दिया गया है।¹¹ वास्तुकार के रूप में स्थपति की सामाजिक प्रतिष्ठा सामान्य शिल्पियों से बहुत अधिक थी। क्षीरस्वामी की अमरकोश की टीका में इसे कारुविशेष एवं मुख्यतः बताया गया है।¹² वराहमिहिर की बृहत्संहिता¹³ में स्थपति के उल्लेख कई स्थलों पर मिलते हैं। कालिदास के रघुवंश में वास्तु-शिल्पियों के संघों (श्रेणियों) का भी उल्लेख मिलता है।¹⁴

1. सचीन्द्र कुमार मैती, ऊपर उद्धृत, पृ० 143

2. वही, पृ० 145.

3. वही, पृ० 146

4. बृहत्संहिता, 15.1.

5. वही, 16.28.

6. वही, 10.9, 12.

7. वही, 10.9, 12.

8. आर० एन० मिश्र, एन्शेंट आर्टिस्ट्स ऐण्ड आर्ट ऐक्टिविटी, पृ० 31.

9. नीहार रंजन रे, श्रेण्य युग (सम्पादक आर० सी० मजूमदार, ए० डी० पुसलकर एवं ए० के० मजूमदार), पृ० 580 और आगे।

10. सचीन्द्र कुमार मैती, ईकोनॉमिक लाइफ आफ़ नार्दर्न इण्डिया इन दि गुप्त पीरियड, पृ० 147.

11. स्थपति : कारुभेदेऽपि – अमरकोश, 3.3.61

12. अमरकोश, 3.3.61 पर क्षीरस्वामी की टीका।

13. बृहत्संहिता, 52.97, 103, 108; 55.30; 59.18. टीकाकार भट्टोत्पल ने स्थपति का अर्थ वर्धकि बताया है; बृहत्संहिता, 52.108. स्थपति एवं वर्धकि शब्द प्रतिमा बनाने वाले शिल्पी के लिए भी मिलते हैं; बृहत्संहिता, 59.18 (भट्टोत्पल की टीका के साथ पठित)।

14. शिल्पिसंघाः – रघुवंश, 16.38

पहले के काल से चले आ रहे अन्य शिल्पों एवं उनसे सम्बन्धित शिल्पियों एवं कारीगरों की परम्परायें गुप्त काल में भी प्रचलित रहीं। अमरकोश एवं वराहमिहिर की बृहत्संहिता में कई प्रमुख शिल्पियों के अभिधान मिलते हैं। इस प्रकार वस्त्रोद्योग से सम्बन्धित जुलाहा या बुनकर के लिए अमरकोश (2.10.6) में तन्तुवाय एवं कुविन्द शब्द मिलते हैं, और बृहत्संहिता में तन्तुवाय¹ के अतिरिक्त कौलिक² शब्द भी मिलता है। रेशम के कपड़े बुनने वालों, जिनका श्रेणि-संगठन भी था, को कुमारगुप्त एवं बन्धुवर्मा के मन्दसौर प्रस्तर-अभिलेख में 'पट्टवाय' कहा गया है।³ अमरकोश (2.6.110 और आगे) में पेड़ों की छाल, कपास, रेशम एवं पशुओं के रोम या ऊन से बने कपड़ों के लिए क्रमशः क्षौमादि; फाल, कार्पास एवं बादर; कौशेय; और राड्क्व एवं मृगरोमज अभिधान दिये गये हैं। इन्हें अलग-अलग विशेषज्ञता वाले कारीगर बनाते रहे होंगे। बाण (7वीं शताब्दी) के हर्षचरित⁴ से ज्ञात होता है कि पुण्ड्र प्रदेश का क्षौम-कपड़ा प्रसिद्ध था और कामरूप में भी क्षौम एवं रेशम के कपड़ों का उद्योग काफी विकसित था। हिउएनत्सांग⁵ ने मथुरा के बड़िया धारीदार कपड़ों का विशेष रूप से उल्लेख किया है। शान्तिदेव (7वीं शताब्दी) के शिक्षा-समुच्चय⁶ में मिलता है कि वाराणसी की ख्याति सर्वोत्तम रेशमी कपड़े तैयार करने के लिये थी।

शिल्पियों के अन्य अभिधान निम्नवत् हैं :- तुन्नवाय⁷ एवं सौचिक⁸ (कपड़ा सिलने वाला दरजी), पादूकृत् एवं चर्मकार (चमड़े का जूता बनाने वाला एवं चमड़े का अन्य काम करने वाला)⁹, मालाकार एवं मालिक (माली)¹⁰, तक्षा, वर्धकि, त्वष्टा, रथकार, काष्ठतट् (लकड़ी का काम करने वाला बढई)¹¹, शौण्डिक,

1. बृहत्संहिता, 15 12

2. वही, 86.20.

3. फ्लीट, गुप्त इंसक्रिप्शन्स, का० इ० 3, पृ० 18.

4. हर्षचरित, 4. कामरूप के राजा द्वारा हर्ष को भेजे गये उपहारों में क्षौम एवं रेशम के कपड़े भी शामिल थे।

5. वाटर्स ऑन युवान च्वांग्सू ट्रैवेल्स इन इण्डिया, I

6. शिक्षा-समुच्चय, पृ० 208.

7. अमरकोश, 2 10.6.

8. अमरकोश, 2.10 6.

9. वही, 2.10.6.

10. वही, 2.10.5.

11. वही, 2.10.9. अधिक पर्यायवाची शब्दों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि लकड़ी के काम तथा उससे बनी वस्तुओं का समाज में व्यापक प्रचलन था। बृहत्संहिता में बढई (वर्धकि) का, सूत से जोख करने के कारण, सूत्रधार अभिधान भी मिलता है। इस ग्रन्थ में (78.32-37) लकड़ी में बनाये जाने वाले छिद्रों के कई प्रकारों का उल्लेख किया गया है, जो काष्ठ-शिल्प में विशिष्ट दक्षता का द्योतक है; तुलनीय, अजय मित्र शास्त्री, ऊपर उद्धृत, पृ० 251, 309.

मण्डहारक (सुरा बनाने वाला)¹ इत्यादि। सेवा-शिल्पों से सम्बन्धित नापित एवं धोबी (रजक) के लिए क्रमशः 5 और 2 शब्द अमरकोश (2.10.10) में मिलते हैं। बृहत्संहिता में तैलिक (10.5; 16.31) का भी उल्लेख मिलता है : यह चक्र से तेल पेरता था और इसलिए इसे भी कुम्भकार की भाँति चाक्रिक (10.9) एवं चक्रचर (10.12) कहा गया है।² इसके अतिरिक्त इत्रसाज (गन्धयुक्तिज्ञ³, काच्छिक⁴), रजक⁵ (रंगरेज के अर्थ में), प्रसाधक⁶ (प्रसाधन-परिचारक जो एक सेवा-शिल्प से सम्बन्धित था) आदि के भी उल्लेख मिलते हैं। गुप्त काल में शिल्पियों एवं व्यापारियों की श्रेणियों का संस्थागत रूप सुदृढ़ हुआ।⁷ ग्राम-शिल्पियों, जो श्रेणियों में संगठित नहीं रहते थे, के ग्राम के अधीन होने का स्पष्ट उल्लेख पहले-पहल इस काल के कोश-ग्रन्थ अमरकोश (2.10.9) में ही मिलता है।⁸

1. अमरकोश, 2.10.10.

2. अभिलेखों में तेल पेरने वाले के लिए तैलिक शब्द मिलता है; उदाहरणार्थ, फ्लीट, गुप्त इंसक्रिप्शन्स, का० ई० ई०, 3, संख्या 16 (स्कन्दगुप्त के राजत्वकाल का इन्दौर ताम्रपत्र-लेख)।

3. बृहत्संहिता, 15.12.

4. वही, 86.41.

5. वही, 10.5; 15.22.

6. वही, 16.17.

7. द्रष्टव्य आगे, अध्याय 2.

8. द्रष्टव्य आगे, अध्याय 3.

गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् और विशेषरूप से हर्ष¹ के काल के बाद, पूर्व मध्यकाल में राजनीतिक अस्थिरता के कई दौर आये। इस काल में व्यापार, मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था एवं नगरों के हास; आत्मनिर्भर स्थानीय कृषिक अर्थव्यवस्था के बढ़ते प्राधान्य; राजनीतिक अस्थिरता; तथा सामन्तवाद के विकास के परिवेश में व्यापारियों एवं शिल्पियों के आर्थिक क्रिया-कलाप का, एवं उनकी श्रेणियों का भी, हास और संकुचन दृष्टिगोचर होता है।² पहले के काल से चले आ रहे प्रमुख शिल्प एवं उद्योग इस काल में भी प्रचलित रहे, पर स्थानीयता एवं आत्मनिर्भर कृषिक अर्थ-व्यवस्था की बढ़ती प्रवृत्ति के क्रम में इनमें लगे शिल्पियों की औद्योगिक गतिविधियों एवं आर्थिक पहुँच के क्षेत्र अधिकतर सीमित हो गये। पूर्व मध्य काल के द्वितीय चरण (10वीं-11वीं से 12वीं शताब्दी) में व्यापार³ की अपेक्षाकृत प्रगति, सिक्कों के पहले के काल से अधिक प्रचलन तथा नगरों (जिनमें विभिन्न क्षेत्रों के राज्यों की राजधानियाँ भी शामिल थीं) के विकास के साथ-साथ व्यापारियों एवं शिल्पियों की गतिविधियों में भी विस्तार हुआ।⁴ इस चरण में विशेष रूप से वस्त्रोद्योग, रत्नों और धातु से सम्बन्धित शिल्पों, तथा प्रस्तर-शिल्प में प्रगति दृष्टिगोचर होती है। शासक-वर्ग, जिसमें सामन्ती ढाँचे के अन्तर्गत अनेक छोटे-बड़े राजा थे, के वैभव, विलासिता एवं युद्धों की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा मूर्तियों एवं मन्दिरों के निर्माण की व्यापक परम्परा की पृष्ठभूमि में ही यह प्रगति सम्यक् रूप से समझी जा सकती है।

भोज के युक्तिकल्पतरु⁵ (11वीं शताब्दी) में शिल्पि-विनिर्मित⁶ वस्त्रों के चार वर्गों- कौषेय (कृमिकोशसमुद्भूत), कार्पास (बहुकार्पाससूत्रोत्थं), वार्क्ष (वृक्षों की छाल से बने कपड़े), एवं लोमज (जन्तुलोमोद्भव- मृग आदि के लोम से बने वस्त्र) का विवरण दिया गया है। कौषेय (रेशमी) एवं लोमज में से प्रत्येक के मुख्यतः सूक्ष्मासूक्ष्म एवं मृदु-स्थूल⁷ के आधार पर चार प्रमुख प्रकारों का वर्णन किया गया है। (लोमज के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के ऊनी कपड़े भी थे।) कार्पास एवं वार्क्ष वस्त्रों के भी अनेक प्रकार बताये

1. हर्ष (606-646-47 ई०) ने लगभग पूरे उत्तरी भारत को राजनीतिक एकता के सूत्र में आबद्ध किया; बी० एन० श्रीवास्तव, हर्ष ऐण्ड हिज़ टाइम्स, वाराणसी, 1976, पृ० 73. पर उसके बाद पुनः एक राजनीतिक अस्थिरता का दौर आ गया।
2. बी० एन० एस० यादव, सो० क० ना० ई०, पृ० 262.
3. विक्रय-कर के अभिलेखीय साक्ष्यों के परीक्षण से यह स्पष्ट हो गया है कि 11वीं और 12वीं शताब्दियों में व्यापारिक लेन-देन की प्रायिकता में वृद्धि हुयी। यह वाणिज्य एवं व्यापार के उत्कर्ष का सूचक है। ओ० पी० श्रीवास्तव, कमर्शाल टैक्सेशन इन इण्डिया (लगभग ईसवी 600-1200), पृ० 26.
4. बी० एन० एस० यादव, सो० क० ना० ई०, पृ० 263.
5. युक्तिकल्पतरु, सम्पादक पंडित ईश्वर चन्द्र शास्त्री, पृ० 81, श्लोक 16-19; पृ० 82, श्लो० 20-28; पृ० 83, श्लो० 29-38.
6. वही, पृ० 83, श्लो० 31.
7. वही, पृ० 81, श्लो० 19.

गये हैं। रंग के आधार पर भी वस्त्रों के चार मुख्य प्रकार श्वेत, रक्त, पीत एवं कृष्ण बताये गये हैं।¹ वस्त्र-शिल्पों में यह प्रगति पहले से ही चली आ रही परम्परा, जो बीच में प्रक्षीण होने लगी थी, के आधार पर हुयी। कपास के वस्त्रों² का उपयोग सभी लोग करते थे और सर्वसाधारण के लिए कपड़ा बुनने वाले जुलाहे तथा उन्हें सिलने वाले दर्जी सभी क्षेत्रों में रहे होंगे।

सोमेश्वर (12वीं शताब्दी) के मानसोल्लास³ में भारत में वस्त्रोद्योग एवं वस्त्रों के व्यापार के प्रमुख केन्द्र निम्नवत् बताये गये हैं :-

मूलस्थान (मुल्तान)⁴, अणिलावाड (अणहिलपट्टन), वंग (बंगाल), पोद्दालपुर (पैठन), चीरपल्ली, नागपट्टन (नागपटनम्), चोलदेश, तोण्डीदेश (तोण्डीमण्डल), पंचपट्टन, कलिंगदेश, एवं अल्लिकाकुल (चिकाकोल)। अरब यात्रियों- सूलेमान⁵ (9वीं शताब्दी) एवं इब्न खुरदाद्ब⁶- ने भी बंगाल के अति महीन सूती कपड़ों की उत्कृष्टता की प्रशंसा की है। कल्हण (12वीं शताब्दी) ने राजतरंगिणी⁷ में कश्मीर-नरेश हर्ष के दरबारियों की भव्य एवं आकर्षक पोशाक का जो वर्णन किया है उसमें वस्त्रोद्योग के विशिष्ट शिल्पियों एवं कारीगरों का उत्कृष्ट कौशल प्रतिबिम्बित होता है।

बुनकर (जुलाहे) के लिए हेमचन्द्र (12वीं शताब्दी) के कोश-ग्रन्थ अभिधान-चिन्तामणि⁸ में तन्त्रवाय एवं कुविन्द शब्द मिलते हैं। इस कोश में ढरकी (सूत लपेटे जाने वाले वंशादिखण्ड) के लिए त्रसर एवं सूत्रवेष्टन; करघा के लिए वेमा एवं वानदण्ड; बुनने के लिए वाणि एवं व्यूति; और सूत के लिए सूत्र एवं तन्तु शब्द मिलते हैं।⁹

1. वही, पृ० 81, श्लो० 15.

2. तत्सर्व सर्वयोग्यं हि सर्वेषामिति सम्मतम्। वही, पृ० 82, श्लो० 27

3. मानसोल्लास, 3.6.1017-20; उद्धृत द्वारा बी० एन० एस० यादव, सो० क० ना० इ०, पृ० 263-64, पादटिप्पणी 136.

4. संदेशरासक नामक अपभ्रंश ग्रन्थ के रचयिता अब्दुल रहमान (12वीं शताब्दी) मुल्तान के रहने वाले एक जुलाहा थे।

5 एवं 6. इलियट एण्ड डाउसन, 1, पृ० 361.

7. राजतरंगिणी, 7.925, 927 और आगे।

8. अभिधान चिन्तामणि, 3.577. अमरकोश (2.10.6) में भी तन्तुवाय एवं कुविन्द शब्द मिलते हैं।

9. अभिधान चिन्तामणि, 3.577. यही शब्द अमरकोश (3.2.24; 2.10.28, 29) में भी मिलते हैं। पर अमरकोश (2.10.28) में वानदण्ड के स्थान पर बायदण्ड मिलता है।

मणियों एवं रत्नों के शिल्प में भी पूर्व मध्यकाल के द्वितीय चरण में प्रगति दृष्टिगोचर होती है। राजाओं एवं भूमिपतियों के अलंकार हेतु इनका विशेष महत्त्व था।¹ युक्तिकल्पतरु² में रत्न-परीक्षा पर 470 श्लोक मिलते हैं, जिनमें वज्र, पद्मराग (माणिक्य), सौगन्धिक, हीरक, विद्रुम, गोमेद, मुक्ता, वैदूर्य, इन्द्रनील, महानील, मरकत, पुष्पराग, कर्केतन-मणि, भीष्म-मणि, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, पुलकमणि, रुधिराख्य, स्फटिक, अयस्कान्त आदि के गुण-दोष, उनमें से प्रमुख के मूल्यों तथा कृत्रिमाकृत्रिम³-परीक्षा का विवरण मिलता है। कुछ उद्धरण मत्स्य, गरुड एवं विष्णुधर्मोत्तर पुराणों के भी मिलते हैं, पर वराहमिहिर की बृहत्संहिता⁴ का कोई उद्धरण नहीं मिलता है। सोमश्वर के मानसोल्लास में भी रत्नों की गुण-दोष-परीक्षा पर 127 श्लोक मिलते हैं।⁵ इस ग्रन्थ⁶ में कृत्रिम रत्न बनाने के धन्ये के विशेष रूप से उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि यह रत्नों की माँग बढ़ने के कारण काफी प्रचलित हो गया था। पर कृत्रिम रत्न बनाने वाले शिल्पियों को हेय दृष्टि से देखा जाता था।⁷ अभिधानचिन्तामणि (3.14) में जवाहरात के शिल्पी, जो मणियों को सान पर चढ़ाकर उन्हें सुडौल बनाता था, के लिए मणिकार एवं वैकटिक⁸ अभिधान मिलते हैं।

धातु-शिल्पों में लोहे के शिल्प का इस काल में विशेष विकास हुआ। इसके साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्य मिलते हैं। तेरहवीं शताब्दी के एक संग्रह-ग्रन्थ रसरत्नसमुच्चय⁹ में लोहे के प्रकारों का विस्तृत एवं सूक्ष्म वर्गीकरण मिलता है। इसमें लोहे के प्रकारों को तीन बड़े वर्गों में बाँटा गया है- मुण्ड (cast iron), तीक्ष्ण (इस्पात), एवं कान्त। इन तीनों के क्रमशः 3, 5 एवं 6 उपप्रकार बताये गये हैं। यह लोहे से सम्बन्धित धातु-विज्ञान एवं धातु-शिल्प की विशेष प्रगति का सूचक है। इस काल के पुरातात्विक साक्ष्य से भी उच्चस्तरीय

1. युक्तिकल्पतरु, पृ० 84 एवं आगे।

2. वही, पृ० 85-138.

3. वही, पृ० 131, श्लो० 63-68.

4. बृहत्संहिता में 21 रत्नों के नाम मिलते हैं। अजयमित्र शास्त्री (इण्डिया एज सीन इन दि बृहत्संहिता आफ वराहमिहिर, पृ० 324-25) ने शंख को भी रत्नों में परिगणित कर 22 रत्नों का उल्लेख किया है। पर युक्तिकल्पतरु (पृ० 138) में शंख का वर्णन रत्नों से अलग किया गया है।

5. मानसोल्लास, जिल्द 1, श्लोक 402-456, 465-536.

6 एवं 7. रत्नानां रूपसाम्यं तु धूर्ताः कुर्वन्ति यत्नतः।

तेषां परीक्षां वक्ष्यामि रत्नारत्नविचारिणीम्॥

मानसोल्लास, जिल्द 1, पृ० 77, श्लो० 532. युक्तिकल्पतरु (पृ० 131, श्लो० 63-68) में भी कृत्रिम मरकत मणि का उल्लेख मिलता है।

8. यादव प्रकाश (11वीं शताब्दी) के कोश-ग्रन्थ वैजयन्ती (3.9.15) में वैकटिक के स्थान पर वैघटिक शब्द मिलता है।

9. रसरत्न-समुच्चय, आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, 5.70 और आगे (पृ० 43-44)।

लोह-शिल्प की जानकारी होती है। पुरी¹ के गुण्डुचबारी मन्दिर एवं कोनार्क² के मन्दिर में लगी शहतीरें (beams) इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं।

पूर्व मध्यकाल में युद्धों की प्रायिकता के कारण तलवार, भाले, आदि बड़े पैमाने पर बनाये जाते थे।³ भोज के युक्तिकल्पतरु (पृ० 138-74) में खड्ग-लक्षण एवं खड्ग-परीक्षा पर 361 श्लोक मिलते हैं। इस सन्दर्भ में लोहारणव, लोहप्रदीप आदि ग्रन्थों के उद्धरण भी दिये गये हैं। युक्तिकल्पतरु (पृ० 170) में वाराणसी, मगध, अंग, कलिंग, सौराष्ट्र आदि खड्ग बनाने के प्रमुख केन्द्र बताये गये हैं। युद्ध के हथियार उत्कृष्ट कोटि के लोहे एवं इस्पात से विशिष्ट कौशल वाले शिल्पियों द्वारा ही बनाये जाते थे। कृषि-कार्य आदि के लिए आवश्यक उपकरण तो सामान्य लोहकार ही बनाते थे, जो सभी क्षेत्रों में रहे होंगे।

लोहे के शिल्पी के लिए अभिधान-चिन्तामणि (3.584) में लोहकार, व्योकार एवं कर्मार नाम मिलते हैं। इनमें से प्रथम दो नाम अमरकोश⁴ में भी मिलते हैं। हथियारों एवं धारदार उपकरणों पर सान चढ़ाने वाले के लिए अभिधान-चिन्तामणि में शाणाजीव, भ्रमासक्त, असिधावक एवं शस्त्रमार्ज शब्द मिलते हैं।⁵

स्वर्ण-शिल्प का भी एक उच्च स्तर दृष्टिगोचर होता है। क्षेमेन्द्र (11वीं शताब्दी) के कलाविलास⁶ में स्वर्णकार को समाज के एक प्रतिमान के रूप में प्रदर्शित किया गया है। अभिधान चिन्तामणि (3.572) में स्वर्णकार के तीन और नाम- नाडिन्धम, कलाद एवं मुष्टिक मिलते हैं। अमरकोश (2.10.8) में भी प्रथम तीन नाम यही मिलते हैं, पर चौथा नाम मुष्टिक के स्थान पर रुक्मकारक मिलता है। सोने के आभूषणों एवं भाण्डों का प्रचलन समाज के समृद्ध वर्ग में व्यापक स्तर पर था। तबकात-ए-नासिरी⁷ में बंगाल के नरेश लक्ष्मणसेन के महल में सोने एवं चाँदी की थालियों का उल्लेख मिलता है। अन्य धातु-शिल्पियों में पितलहार⁸ (पीतल का

1 एवं 2. बी० पी० मजूमदार, इण्डियन कल्चर, जिल्द 14, नं० 1; बी० एन० एस० यादव, सो० क० ना० ई०, पृ० 265, 307.

3. युक्तिकल्पतरु, पृ० 139-40.

4. द्रष्टव्य ऊपर।

5. अभिधान चिन्तामणि, 3.580. अमरकोश के शूद्र वर्ग (2.10.7) में इस शिल्पी के लिये ऊपर के अन्तिम दो अभिधान ही मिलते हैं। इससे लोहे के शिल्प का विस्तार प्रतीत होता है।

6. कलाविलास, काव्यमाला सीरीज, नं० 1, अध्याय 8.

7. इलियट ऐण्ड डाउसन, 2, पृ० 309.

8. परमर्दि का सेमरा दान-पत्र, एपि० ई०, 4, पृ० 153-70.

9.

सामान बनाने वाले), कांस्यकार¹ (काँसे का सामान बनाने वाले), शौल्बिक एवं ताम्रकुट्टक (ताँबे के बर्तन बनाने वाले)² इत्यादि के उल्लेख मिलते हैं।

प्रस्तर शिल्प के क्षेत्र में वास्तु-कला एवं मूर्ति-कला का भी गुप्तोत्तर काल में विभिन्न क्षेत्रीय शैलियों के अन्तर्गत विस्तार हुआ।³ मुख्यतः (मुख्य शिल्पी) के रूप में अमरकोश में केवल स्थपति⁴ का उल्लेख मिलता है। पर गुप्तोत्तर काल के अभिलेखों में विशिष्ट शिल्पी के रूप में सूत्रधार⁵ का नाम मिलता है, जिसकी भूमिका भवन-निर्माण के कार्य में महत्वपूर्ण लगती है। मानसार⁶ में शिल्पियों के स्थपति, सूत्रग्राहिन्, वर्धकी एवं तक्षक अभिधान मिलते हैं। स्थपति को महानिदेशक एवं परामर्शदाता वास्तुकार बताया गया है, और सूत्रग्राहिन् को वर्धकी⁷ एवं तक्षक⁸ के ऊपर निरीक्षक के रूप में समझा गया है। रूपकार⁹ का परम्परागत अर्थ मूर्तिकार था, पर इसका अर्थ-विस्तार होता है और यह शब्द गुप्तोत्तर काल में प्रस्तर-शिल्पी के लिए एक सामान्य शब्द भी हो जाता है। अभिलेखीय साक्ष्य से ज्ञात होता है कि चित्रकार शब्द भी मूर्तिकार के लिए प्रयुक्त होने लगा।¹⁰ पर सामान्य रूप से रूपकार शब्द का ही अर्थ मूर्तिकार था।

स्थपति एवं सूत्रधार विशिष्ट प्रकार के शिल्पी थे, जिनकी प्रतिष्ठा सामान्य शिल्पियों से कहीं अधिक थी।¹¹ भोज (11वीं शताब्दी) के समराङ्गण-सूत्रधार¹² से ज्ञात होता है कि स्थपति के लिए स्थापत्य एवं मूर्तिकला के सिद्धान्त एवं व्यवहार के ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कलाओं एवं शिल्पों— चित्रकारी, काष्ठ-शिल्प, धातु-शिल्प आदि— तथा संख्या-विज्ञान, ज्योतिष, यन्त्र-विज्ञान आदि की जानकारी अपेक्षित मानी जाती थी।

1. लक्ष्मीधर के कृत्यकल्पतरु का व्यवहारकाण्ड, पृ० 217 (पितामह का उद्धरण); बृहद्धर्म पुराण, 3.13.

2. अभिधान चिन्तामणि, 3.574. ये दोनों अभिधान अमरकोश में भी मिलते हैं।

3. आर० एन० मिश्र, ऐंशेंट आर्टिस्ट्स ऐण्ड आर्ट ऐक्टिविटी, पृ० 32 और आगे।

4. नामलिङ्गानुशासन, 3.3.61 (क्षीरस्वामी की टीका के साथ)।

5. आर० एन० मिश्र, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 34.

6. पी० के० आचार्य, मानसार, ऐन एन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर, जिल्द 3, स्थपति के अन्तर्गत; मयमतम् (V.13-14) में भी इन चार प्रकार के शिल्पियों का उल्लेख मिलता है।

7. यहाँ वर्धकी एवं तक्षक शब्द प्रस्तर पर काम करने वालों के लिए प्रयुक्त किये गये हैं।

8. मयमतम् (V. 20) के अनुसार, तक्षक उन शिल्पियों को कहा जाता था जो प्रस्तर, लकड़ी या ईंट को भवन-निर्माण के लिये उपयुक्त बनाते थे।

9. आर० एन० मिश्र, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 50, 52.

10. वही, पृ० 52.

11. समराङ्गणसूत्रधार, अध्याय 37.

12. आर० एन० मिश्र, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 35.

13.

मदिरा-निर्माण की प्रथा में भी प्रगति एवं विस्तार दृष्टिगोचर होते हैं। अमरकोश (2.10.39-42), जो सामान्यतः गुप्त काल की स्थिति पर प्रकाश डालता है, में मदिरा के लगभग बीस प्रकार बताये गये हैं। पर 12वीं शताब्दी के कोश-ग्रन्थ अभिधान चिन्तामणि (2.566-68) में सामान्य मदिरा के 26 अभिधान मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इस कोश में शहद मिलाकर तैयार किये गये मद्य के 2 नाम, गुड़ से बने मद्य के 3 नाम और चावल आदि को उबाल कर तैयार किये गये मद्य के 4 नाम मिलते हैं। अमरकोश (2.10.10) में शराब बनाने एवं बेचने वाले के केवल 2 नाम (शौण्डिक एवं मण्डहारक) मिलते हैं, पर अभिधान चिन्तामणि में इन दोनों के अतिरिक्त कल्लपाल एवं अन्य 6 नाम मिलते हैं। इस काल में सामन्ती अभिजात वर्ग में मदिरा का अधिक प्रचलन था।¹

हेमचन्द्र के अभिधान चिन्तामणि (3.574-587) में जिन अन्य शिल्पियों एवं कारीगरों के कई पारम्परिक एवं कुछ अन्य अभिधान मिलते हैं, वे निम्नवत् हैं :

कुम्भकार, वर्धकि, चर्मकार², शांखिक, तेली, दरजी (तुन्नवाय, सौचिक), चित्रकार, रंगसाज, ईंट-चिनाई एवं पुताई करने वाले (पलगण्ड, लेप्यकृत), हलवाई, नापित, धोबी (रजक, निर्णेजक) आदि। शिल्पियों एवं कारीगरों के लिए अमरकोश (2.10.5) में दो सामान्य अभिधान (कारु, शिल्पी) मिलते हैं, पर अभिधान चिन्तामणि (3.563) में इन दोनों के अतिरिक्त कारी (-रिन-) एवं प्रकृति भी दिये गये हैं।

पूर्व मध्य काल की आत्म-निर्भर-प्रायः स्थानीय कृषिक अर्थ-व्यवस्था के परिवेश में ग्राम-शिल्पियों की भूमिका महत्वपूर्ण हो गयी थी।³ इन्हें ग्राम से सम्बद्ध माना जाता था।⁴

1. बी० एन० एस० यादव, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 332.

2. मार्को पोलो ने गुजरात के चर्म-उद्योग का विशेष रूप से उल्लेख किया है; हेनरी यूल, दि बुक आफ सेर मार्को पोलो, जिल्द 2, पृ० 383.

3 एवं 4. द्रष्टव्य आगे, अध्याय 3.

शिल्प-प्रशिक्षुता तथा शिल्प-श्रेणियाँ

प्रमुख शिल्पियों एवं कारीगरों तथा उनकी श्रेणियों का ऐतिहासिक सर्वेक्षण पिछले अध्याय में किया जा चुका है। यहाँ मुख्य रूप से शिल्प-श्रेणियों में प्रशिक्षुता-व्यवस्था तथा उनके संगठन, कार्य एवं स्थिति के सम्बन्ध में विचार करना अभिप्रेत है। ये श्रेणियाँ सहकारिता की भावना पर आधारित थीं। जैसा कि देखा जा चुका है, ये अलग-अलग व्यवसाय करने वाले शिल्पियों, व्यापारियों आदि के अपने-अपने समूह के हित-संवर्धन हेतु बनाये गये स्थानीय संगठन के रूप में थीं।¹ बृहस्पति स्मृति² से संकेत मिलता है कि अपने सदस्यों की सुरक्षा-व्यवस्था करना- चाट, चोर आदि से उत्पन्न बाधा का निवारण करना- इनका एक प्रमुख उद्देश्य था : सामूहिक धर्म-कार्य की व्यवस्था करना भी इनका एक सरोकार था। मनु के प्राचीनतम टीकाकार भारुचि (लगभग 600-650 ई०)³ ने एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में विभिन्न शिल्पियों, व्यापारियों आदि द्वारा अपनी-अपनी श्रेणियों के गठन का उद्देश्य मुख्य रूप से अपने-अपने व्यावसायिक कार्य⁴ का सुचारु रूप से सम्पादन करना बताया है। अनुकूल सामाजिक एवं आर्थिक पृष्ठभूमि में शिल्पियों एवं व्यापारियों की श्रेणियों के विकास में राज्य की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। गौतम धर्मसूत्र (11.21) एवं मनुस्मृति (8.41) के साक्ष्य से स्पष्ट हो जाता है कि राज्य श्रेणियों एवं उनके अपने-अपने निर्धारित नियमों को मान्यता प्रदान करता है।⁵ श्रेणि-व्यवस्था के निर्माण, नियमन एवं विकास में राज्य-प्रशासन की भूमिका के प्रमाण यूरोप के इतिहास में भी मिलते हैं।⁶

1. द्रष्टव्य ऊपर।

2. बाधाकाले तु सा कार्या धर्मकार्ये तथैव च। बृहस्पति स्मृति, 17.5.

चाटचोरभयं बाधा सर्वसाधारणा स्मृता।

तत्रोपशमनं कार्यं सर्वैर्नैकिन केनचित् ॥ वही, 17.6.

3. भारुचिस् कॉमेंटरी आन दि मनुस्मृति, सम्पादक जे० डी० एम० डेरेट, भूमिका, पृ० 10.

4. स्वकार्य-सिध्यर्थम् - वही, मनु० 8.141 पर।

5. गौतम धर्मसूत्र में श्रेणि के स्थान पर 'वर्ग' शब्द मिलता है। मनु ने श्रेणियों द्वारा अपने-अपने निर्धारित नियमों को 'श्रेणीधर्म' का विशिष्ट अभिधान प्रदान किया है।

6. हेनरी पिरेन, ईकोनॉमिक ऐण्ड सोशल हिस्ट्री आफ़ मेडीवल यूरोप, पृ० 181 और आगे।

श्रेणियों का पूर्व रूप उत्तर वैदिक काल में अस्तित्व में आ गया होगा।¹ पर अपने विशिष्ट संस्थागत रूप में ये छठी-पाँचवीं शताब्दी ई०पू० के काल में ही दृष्टिगोचर होती हैं।² इनके इस विकास में उस काल के आर्थिक एवं सामाजिक विकास-उपकरणों के निर्माण में लोहे के प्रयोग; कृषि, उद्योग एवं व्यापार में प्रगति; सिक्कों के प्रचलन; तथा नगर एवं नगर-जीवन के विकास-की विशेष भूमिका थी।³ शिल्पियों की श्रेणियाँ नगरों एवं उनके पास के ग्रामों में ही अवस्थित रहती थी।⁴ प्राचीन बौद्ध साहित्य में हम 18 श्रेणियों के उल्लेख पाते हैं।⁵ इनमें से अधिकांश श्रेणियाँ शिल्पियों एवं कारीगरों की थीं।

अर्थशास्त्र, जो मौर्य काल की स्थिति पर प्रकाश डालता है, में हमें श्रेणियों के सम्बन्ध में अधिक जानकारी नहीं मिलती है। इस ग्रन्थ में मिलने वाले 'श्रेणीबल' शब्द के आधार पर यह नहीं माना जा सकता कि इस काल में व्यापारिक एवं औद्योगिक श्रेणियाँ सैनिक शक्ति के रूप में थीं।⁶ मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद श्रेणिजों पर राज्य का कठोर नियन्त्रण नहीं रह गया। इस स्थिति में मौर्योत्तर काल में, आर्थिक प्रगति के क्रम में, श्रेणियों का संस्थागत रूप अधिक व्यवस्थित हुआ। इसका प्रमाण हम ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों की स्थिति पर प्रकाश डालने वाले धर्मशास्त्र-ग्रन्थ याज्ञवल्क्य स्मृति (100-300 ई०) में पाते हैं। इसमें, पहले-पहल, शिल्प-प्रशिक्षुता तथा श्रेणियों के संगठन एवं उनके अधिकार के सम्बन्ध में कुछ व्यवस्थित नियम मिलते हैं।⁷ शिल्प-प्रशिक्षुता के सम्बन्ध में नारद स्मृति (100-400 ई०) में अपेक्षाकृत विस्तृत नियम मिलते हैं।⁸ श्रेणियों के संविधान, प्रबन्ध-पद्धति, अधिकारों एवं क्रिया-कलाप सम्बन्धी नियमों के विषय में और अधिक जानकारी बृहस्पति स्मृति एवं कात्यायन स्मृति से मिलती है।⁹

1, 2, 3, 4, 5 एवं 6. द्रष्टव्य ऊपर, अध्याय 1.

3 द्रष्टव्य आगे।

8 एवं 9 द्रष्टव्य आगे।

मौर्योत्तर काल के ग्रन्थ महावस्तु¹ के साक्ष्य से यह संकेत मिलता है कि सभी शिल्पि-श्रेणियाँ सभी स्थानों में समान रूप से संगठित नहीं थीं। इस ग्रन्थ में कुछ शिल्पियों के संगठनों- मणिकार तैलिक, शांखिक आदि- को , कुछ व्यापारियों के संगठनों के साथ ही, श्रेणि-वर्ग में रखा गया है। पर मालाकार, चर्मकार, कुम्भकार आदि को इस वर्ग में न रख कर सामान्य शिल्पायतन वर्ग में शामिल किया गया है। इनकी भी अपनी-अपनी श्रेणियाँ थी, पर इन्हें सामान्य शिल्पायतन वर्ग के अन्तर्गत सम्भवतः इसीलिए रखा गया है कि इनकी श्रेणियाँ उतनी प्रतिष्ठित अथवा संघटित नहीं थीं जितनी उनकी जिन्हें श्रेणि-वर्ग में रखा गया है। पर यही स्थिति सर्वत्र न रही होगी : क्षेत्रीय एवं स्थानीय विभिन्नताएँ भी रही होंगी।²

शिल्पियों की श्रेणियों के व्यवस्थित होने तथा शिल्पों में दक्षता एवं कौशल के विकास में शिल्प-प्रशिक्षुता की परम्परा की महत्वपूर्ण भूमिका थी। कुछ प्राचीन पालि-ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि शिल्प-प्रशिक्षुता की परम्परा काफी पहले से चली आ रही थी। मज्झिम निकाय³ में दक्ष राजगीर (दक्खो पलगण्डो) एवं उसके शिल्प-विद्यार्थी (पलगण्डन्तेवासी) का उल्लेख मिलता है। कुश जातक⁴ में मिलता है कि एक राजकुमार क्रमशः राजकीय कुम्भकार, मालाकार, डलिया बनाने वाले तथा रसोइया (भोजने बनाने वाले) का प्रशिक्षु बना। पर शिल्प-प्रशिक्षुता की प्रथा के व्यवस्थित रूप का स्पष्ट साक्ष्य, जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है, याज्ञवल्क्य स्मृति (2.184) में मिलता है। इसमें शिल्पाचार्य गुरु के गृह में रहकर शिल्प की शिक्षा प्राप्त करने वाले के लिए अन्तेवासी का अभिधान मिलता है। इसके अनुसार, नवयुवक प्रशिक्षु जिस शिल्प की शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे वे उसी के विशेषज्ञ एवं दक्षता-प्राप्त किसी शिल्पाचार्य से सम्बद्ध हो जाते थे। विशेषज्ञ शिल्पाचार्यों की अपनी-अपनी कार्यशालायें होती रही होंगी, और ये अपने कच्चे माल एवं उपकरणों के स्वामी होते रहे होंगे। इस प्रकार शिक्षा की गुरुकुल-प्रणाली⁵ का एक रूप हम शिल्प-शिक्षा-व्यवस्था में भी पाते हैं।

1 महावस्तु अवदान, सम्पादक राधागोविन्द बसाक, प्रथम खण्ड, भूमिका, पृ० 37-40.

2 उदाहरणार्थ, नासिक गुफा-लेख में कुम्भकारों की एक श्रेणी में धन-निवेश करने का उल्लेख मिलता है; द्रष्टव्य ऊपर-अध्याय 1. पर महावस्तु में कुम्भकार को श्रेणि-वर्ग में नहीं रखा गया है।

3 मज्झिम निकाय, 20 वितक्कसंठानसुत्त, पृ० 159; जैमल राय, दि रूरल-अरबन इकॉनमी ऐण्ड सोशल चेंजेस इन एन्शेंट इंडिया, पृ० 125 पादटिप्पणी 6.

4 जातक, 5 151 (पृष्ठ)।

5 किरन कुमार थपल्लाल, गिल्ड्स इन एन्शेंट इंडिया, पृ० 78.

शिल्पी एवं शिल्पाचार्य के सन्दर्भ में बृहस्पति स्मृति¹ में कुछ मुख्य शिल्पों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। ये हैं— सोने, चाँदी एवं अन्य धातुओं (कुप्य); सूत्र (सूत बनाने एवं उसकी बुनाई); लकड़ी (काष्ठ); पाषाण; एवं चमड़े (चर्म) से सम्बन्धित शिल्प। इससे यह संकेत मिलता है कि इनमें प्रशिक्षुता की परम्परा का विशेष प्रचलन रहा होगा। कुछ अन्य शिल्पों, जैसे डलिया बनाने, मिट्टी के सामान्य बर्तनों के बनाने आदि के हस्त-शिल्पों में— जिनमें अति उच्च स्तर की विशिष्टता अपेक्षित नहीं रहती थी— गुरुकुल-प्रणाली वाली प्रशिक्षुता-परम्परा न रही होगी। इन सामान्य पैतृक शिल्पों को प्रशिक्षु अपने पिता या परिवार के अन्य दक्ष सदस्यों से ही सीख लेते रहे होंगे।

प्रशिक्षुता की व्यवस्था एक प्रकार का अनुबन्ध थी, जो हमें मध्य-युगीन योरप की श्रेणि-व्यवस्था में भी दृष्टिगोचर होती है।² यह अनुबन्ध अन्तेवासी (प्रशिक्षु) एवं शिल्पाचार्य (जो विशेषज्ञ शिल्पी होती था) दोनों के लिए बाध्यकारी होता था और इसके अनुसार दोनों के कर्तव्य एवं अधिकार स्पष्ट रूप से निर्धारित होते थे।³ नारद स्मृति⁴ के साक्ष्य से यह ज्ञात होता है कि यदि कोई किसी शिल्प में प्रशिक्षुता ग्रहण करने का इच्छुक होता था तो उसे पहले अपने सम्बन्धियों से अनुमति प्राप्त करनी होती थी। अनुमति मिलने के पश्चात् ही वह प्रशिक्षु के रूप में किसी शिल्पाचार्य से एक सुनिश्चित अवधि के लिए सम्बद्ध होता था।⁵ यह कालावधि प्रशिक्षुता ग्रहण करने के समय ही निश्चित कर ली जाती थी।⁶

शिल्पाचार्य का कर्तव्य अन्तेवासी को पुत्रवत् मानते हुए अपने गृह में आवास एवं भोजन की व्यवस्था करना तथा उसे समुचित प्रशिक्षण देना था।⁷ वह अन्तेवासी से कोई दूसरा काम नहीं करा सकता था।⁸ यदि अन्तेवासी विधिवत् प्रशिक्षण देने वाले दोषरहित (अदुष्टम्) अपने शिल्पाचार्य को छोड़ देता था तो उसे बलपूर्वक

1. बृहस्पति स्मृति, 13.33, 35. प्रशिक्षुता की परम्परा नृत्य आदि कलाओं में भी प्रचलित थी— बृहस्पति स्मृति, 15.7. चौसठ कलाओं, जिनके अन्तर्गत कुछ शिल्प भी थे, के लिए द्रष्टव्य राधा कुमुद मुकर्जी, एन्शेंट इंडियन एजुकेशन, पृ० 353 और आगे।

2. तुलनीय ए० एस० अल्तेकर, एजुकेशन इन एन्शेंट इंडिया, पृ० 203 पादटिप्पणी 2.

3. नारद स्मृति, पृ० 144, श्लोक 16 एवं आगे।

4. एवं 5 वही, पृष्ठ 144, श्लोक 16.

6. वही, पृष्ठ 144, श्लोक 16; याज्ञवल्क्य स्मृति, 2.184. विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य के इस श्लोक की व्याख्या में आयुर्वेद आदि शिल्पों की प्रशिक्षुता की कालावधि 4 वर्ष (वर्षचतुष्टयम्) माना है। पर सभी शिल्पों के लिए यही अवधि रही होगी ऐसा नहीं कहा जा सकता।

7. नारद स्मृति, पृ० 144, श्लोक 16, 17.

8. वही, पृष्ठ 144, श्लोक 17.

बाध्य किया जाता था कि वह उसके साथ रहे¹ : ऐसे अन्तेवासी के लिए बन्धन एवं शारीरिक दण्ड का भी विधान² किया गया है। कात्यायन³ के अनुसार, यदि आचार्य प्रशिक्षु को शिल्प की शिक्षा देने में लापरवाही करता था और उससे कोई अन्य कार्य कराता था तो वह अर्थदण्ड का पात्र समझा जाता था, और ऐसी स्थिति में अन्तेवासी आचार्य से अलग हो जाने के लिए स्वतन्त्र हो जाता था।

प्रशिक्षण-अवधि के दौरान अन्तेवासी द्वारा जो शिल्पोत्पादन किया जाता था उससे प्राप्त होने वाला लाभ शिल्पाचार्य को ही मिलता था।⁴ याज्ञवल्क्य⁵ एवं नारद⁶ दोनों के अनुसार, अन्तेवासी यदि अपना प्रशिक्षण पूर्व निश्चित अवधि की समाप्ति के पहले ही पूर्ण कर लेता था तो भी उसे इकरारनामे के अनुसार उस पूरी अवधि तक आचार्य के पास ही रहना पड़ता था। इस काल में भी उसके द्वारा किये गये शिल्पकर्म का लाभ आचार्य को ही मिलता था।⁷

प्रशिक्षण की अवधि पूरी हो जाने के पश्चात् अन्तेवासी आचार्य की प्रदक्षिणा कर उससे विदा लेता था, और अपने घर को जाता था।⁸ पर आचार्य अन्तेवासी के शिल्प-कौशल को देखकर उसे वेतन देकर कर्मकर के रूप में नियोजित भी कर लेता था : इस स्थिति में भी वह आचार्य के घर में ही रहता था।⁹ मध्ययुगीन यूरोप में भी किसी शिल्प में अपनी प्रशिक्षुता समाप्त करने के उपरान्त लोग प्रायः अपने शिल्पाचार्य के वैतनिक कर्मकर के रूप में शिल्प-कार्य करते थे, जिन्हें जर्निमन (journeymen)¹⁰ कहा जाता था।

1. वही, उपर्युक्त स्थल, श्लोक 18.

2. वही, उपर्युक्त स्थल, श्लोक 18. वधबन्धौ च सोऽर्हति। विज्ञानेश्वर की व्याख्या (याज्ञवल्क्य, 2.184 पर) में 'वध' का अर्थ इस सन्दर्भ में 'ताडन' बताया गया है।

3. यस्तु न ग्राहयेच्छिल्पं कर्माण्यन्यानि कारयेत्।
प्राप्नुयात् साहसं पूर्वं तस्माच्छिष्यो निवर्तते॥
कात्यायन-स्मृति-सरोद्धार, सम्पादक पी० वी० काणे, पृ० 87, श्लोक 713.

4. नारद स्मृति, पृ० 144, श्लोक 19.

5. याज्ञवल्क्य स्मृति, 2 184.

6. नारद स्मृति, पृ० 144, श्लोक 19.

7. वही, उपर्युक्त स्थल एवं श्लोक।

8. वही, उपर्युक्त स्थल, श्लोक 20.

इस श्लोक पर असहाय की टीका में 'कृत्वाचार्यप्रदक्षिणाम्' का अर्थ आचार्य की प्रदक्षिणा कर (प्रदक्षिणीकृत्य) दिया गया है। पर राधा कुमुद मुकर्जी ने 'प्रदक्षिणा' शब्द से आचार्य को दक्षिणा प्रदान करने का अर्थ ग्रहण किया है- एन्शेंट इंडियन एजुकेशन, पृ० 349.

9. नारद स्मृति, पृ० 144, श्लोक 20.

किरन कुमार थपल्लाल के अनुसार, यदि शिल्पाचार्य श्रेणी का प्रमुख होता था तो वैतनिक कर्मकर के रूप में नियोजित वह प्रशिक्षित शिष्य प्रायः उस श्रेणी का सदस्य बन जाता है; गिल्ड्स इन एन्शेंट इंडिया, पृ० 81.

10. हेनरी पिरेन, ईकोनॉमिक ऐण्ड सोशल हिस्ट्री आफ मेडीवल यूरोप, पृ० 187.

कुछ अभिलेखों में भी हम शिल्पियों एवं उनके आचार्यों के उल्लेख पाते हैं। मथुरा के एक अभिलेख में उल्लेख मिलता है कि सुप्रसिद्ध परखम यक्ष की प्रतिमा निर्मित करने वाला गोमन्तक नामक शिल्पी कुणिक नामक आचार्य का शिष्य (अन्तेवासी) था।¹ इसी आचार्य के दूसरे अन्तेवासी नाक द्वारा यक्षी लायावा की प्रतिमा बनाने का उल्लेख मथुरा के एक-दूसरे अभिलेख में मिलता है।² इससे स्पष्ट होता है कि कुणिक इस क्षेत्र का प्रसिद्ध शिल्पाचार्य था, जिसके द्वारा गोमन्तक एवं नाक जैसे भारत के प्रारम्भिक विशाल प्रतिमाओं के निर्माता कुशल शिल्पी प्रशिक्षित किए गये थे।³ कला में भी हमें शिल्पियों के प्रशिक्षण की कुछ झलक मिलती है। खजुराहो के लक्ष्मणेश्वर मन्दिर के एक फलक में प्रस्तर की पटिया पर कुछ अंकित करते हुये, शिष्यों से घिरे, एक शिल्पाचार्य का चित्रण मिलता है।⁴

प्रयोगात्मक प्राविधिक प्रशिक्षण के दौरान शिल्पाचार्य प्रशिक्षु (अन्तेवासी) को साथ लेकर साझेदारी (सम्भूयसमुत्थान) में भी कार्य करता था। कात्यायन⁵ ने इस सन्दर्भ में प्रशिक्षुओं की दो कोटियाँ माना है— शिक्षक एवं अभिज्ञ। शिक्षक प्रारम्भिक स्तर के शिल्प-विद्यार्थी होते थे और अभिज्ञ वे विद्यार्थी थे जो उस शिल्प में अपेक्षाकृत अधिक अनुभव प्राप्त कर लेते थे। इन दोनों कोटियों के विद्यार्थियों के अतिरिक्त आचार्य कुशल शिल्पियों को भी साझेदारी के काम में शामिल करता था, जिनमें प्रशिक्षण समाप्त कर चुके उसके साथ सम्बद्ध उसके शिष्य भी होते रहे होंगे। इन चारों कोटियों के शिल्पियों को साझेदारी के कार्य में मिलने वाले लाभ के बँटवारे का निम्नलिखित विधान⁶ मिलता है :-

1. लूडर्स लिस्ट, 150.

2. आर० पी० चन्दा, आर्किअलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया, ऐनुअल रिपोर्ट, 1922-23, पृ० 165.

आर० एन० मिश्र, एन्शेंट आर्टिस्ट्स ऐण्ड आर्ट ऐक्टिविटी, पृ० 15.

3. तुलनीय राधा कुमुद मुकुर्जी, एन्शेंट इण्डियन एजुकेशन, पृ० 252.

4. आर० एन० मिश्र, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 76.

वास्तुकला एवं मूर्तिकला के प्रशिक्षण में इनसे सम्बन्धित शास्त्र-ग्रन्थों में दिये गये नियमों की भी शिक्षा दी जाती रही होगी। तुलनीय किरन कुमार थपल्याल, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 81, पादटिप्पणी 185.

5. शिक्षकाभिज्ञकुशला आचार्यश्चेति शिल्पिनः।

एकद्वित्रिचतुर्भागान्दरेयुस्ते यथोत्तरम्॥ कात्यायनस्मृति-सारोद्धार, पृ० 78, श्लोक 632, पृ० 248 (पी० वी० काणे का अंग्रेजी अनुवाद)। काणे के अनुसार 'शिक्षक' शब्द यहाँ प्रारम्भिक स्तर के सीखने वाले के लिए प्रयुक्त हुआ है; द्रष्टव्य मोनियर विलियम्स, संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, पृ० 1070, स्तम्भ 1.

किरन कुमार थपल्याल (गिल्ड्स इन एन्शेंट इंडिया, पृ० 76) ने उपर्युक्त श्लोक में आये 'आचार्य' शब्द का अर्थ 'नवीन पद्धति का निदेशक' (the director of new method) बताया है। पर पी० वी० काणे ने इसका अर्थ अध्यापक (teacher) ग्रहण किया है, जो सर्वथा समीचीन लगता है : शिल्पियों के सन्दर्भ में यह अध्यापक या आचार्य स्पष्टतः शिल्पाचार्य था।

6. कात्यायन का ऊपर उद्धृत श्लोक। यह श्लोक बृहस्पति स्मृति (13.35) में भी मिलता है। इसे 12वीं शताब्दी के धर्मनिबन्धकार लक्ष्मीधर ने भी अपने कृत्यकल्पतरु के व्यवहारकाण्ड (पृ० 371) में उद्धृत किया है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह परम्परा बाद के काल में भी प्रचलित थी।

(1) प्रारम्भिक स्तर के शिल्प-विद्यार्थी	1
(2) उच्च स्तर के विद्यार्थी (अभिज्ञ)	2
(3) कुशल शिल्पी	3
(4) शिल्पाचार्य	4

पर, जैसा कि पहले देखा जा चुका है, शिल्प-विद्यार्थी को जो अंश मिलता था उस पर आचार्य का ही अधिकार होता था।

शिल्प-प्रशिक्षुता सम्बन्धी नारद के एक श्लोक¹, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, से यह संकेत मिलता है कि कोई भी शिल्प-विद्यार्थी अपनी पसन्द का शिल्प चुनकर, अपने सम्बन्धियों की (बान्धवानां) अनुमति प्राप्त करने के उपरान्त, उस शिल्प के आचार्य से प्रशिक्षणार्थ सम्बद्ध हो सकता था। यहाँ अपनी जाति से सम्बन्धित पैतृक शिल्प को ही ग्रहण करने की बात नहीं मिलती है।² इस प्रकार जाति से शिल्प के अनिवार्य सम्बन्ध का विधान यहाँ नहीं मिलता है। पर कालान्तर में जाति-प्रथा के उत्तरोत्तर कठोर होने के क्रम में शिल्प-विद्यार्थी को अपनी जाति का ही शिल्प ग्रहण करने का विधान किया जाने लगा। इस प्रकार बाद के एक धर्मशास्त्र-ग्रन्थ में नारद-स्मृति के विचारगत श्लोक में संशोधन कर 'स्वशिल्पम्' के स्थान पर 'स्वं शिल्पम्' कर दिया गया है और 'स्वं' की व्याख्या 'आत्मजात्युचितम्' ('अपनी जाति का उचित' शिल्प) की गयी है।³ यद्यपि जाति एवं शिल्प के पूर्ण सामंजस्य का यह आदर्श व्यावहारिक⁴ स्तर पर पूरी तरह सम्भव नहीं हो सकता था, फिर भी इसे गुप्तोत्तर काल में एक बलवती प्रवृत्ति का द्योतक माना जा सकता है।⁵

1. स्वशिल्पमिच्छन्नाहर्तुं बान्धवानामनुज्ञया।

आचार्यस्य वसेदन्ते कालं कृत्वा सुनिश्चितम्॥ - नारद स्मृति, पृ० 144, श्लोक 16.

2. तुलनीय राधाकुमुद मुकर्जी, एन्शेंट इंडियन एजुकेशन, पृ० 35.

3. लक्ष्मीधर (12वीं शताब्दी) के कृत्यकल्पतरु का व्यवहारकाण्ड, पृ० 384 एवं पादटिप्पणी 2. यह व्याख्या व्यवहारकाण्ड की कुछ पाण्डुलिपियों में मिलती है।

4. 10वीं शताब्दी के सियादोनी अभिलेख में एक ब्राह्मण ताम्बोलिक का उल्लेख मिलता है। एपि० इ०, जिल्द 1, पृ० 176, पंक्ति 25. आपद्धर्म का विधान भी धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में मिलता है, जिसके अनुसार अपने वर्ण के लिए विहित जीविका का साधन न मिलने पर कोई व्यक्ति अपने से निम्न वर्ण के लिए विहित वृत्ति अपना सकता था।

5. द्रष्टव्य आगे।

शिल्पों के क्षेत्र में इस प्रशिक्षुता-व्यवस्था के कुछ दोष भी थे। इसमें प्राविधिक व्यावसायिक शिक्षा का ही प्रशिक्षण होता था। शिल्पशास्त्र के अन्तर्गत आने वाले वास्तुकला, मूर्तिकला आदि शिल्पों को छोड़कर अन्य में सामान्य शिक्षा का कोई स्थान नहीं था। प्रशिक्षु एवं आचार्य के बीच इकरारनामे की शर्तों के अनुसार, प्रशिक्षु को कठोर अनुशासन में रहना पड़ता था और यदि उसका आचार्य से अच्छा सम्बन्ध नहीं स्थापित हो पाता रहा होगा तो उसकी स्थिति दयनीय हो जाती रही होगी।¹ वह केवल प्रशिक्षण प्रदान करने में लापरवाही करने वाले एवं दुष्ट आचार्य से ही अलग हो सकता था।² इसके अतिरिक्त कठोर प्रशिक्षण के वातावरण में शिल्प-सम्बन्धी नये विचारों और तकनीकों के उदय का अवकाश बहुत कम रहा होगा। पर इस प्रशिक्षुता-व्यवस्था के कुछ गुण भी थे। यह आचार्य और शिष्य के बीच आत्मीय सम्बन्ध पर आधारित थी।³ आचार्य का अपने ही परिवार में रहने वाले शिष्य के प्रति पुत्रवत् स्नेह-भाव होता था, और शिष्य प्राविधिक शिक्षा प्रदान करने वाले अपने आचार्य की श्रद्धा-भाव से शुश्रूषा करता था।⁴ इस वातावरण में आचार्य की व्यक्तिगत देख-रेखा में शिष्य, उसकी शिल्प-कार्य-पद्धति का निरीक्षण कर एवं उसके शिल्प-कार्य में सहभागिता कर, उसकी तकनीक का मर्म जान लेता था और उस शिल्प में उच्च स्तर का प्राविधिक ज्ञान एवं अनुभव प्राप्त कर लेता था। इस प्रकार इस प्रशिक्षुता-व्यवस्था की शिल्प-कौशल, शिल्पोत्पादन तथा शिल्प-श्रेणियों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका थी।⁵

शिल्प-श्रेणियों के गठन एवं संविधान पर याज्ञवल्क्य (100-300 ई०), नारद (100-400 ई०), बृहस्पति (300-500 ई०) एवं कात्यायन (400-600 ई०) की स्मृतियाँ महत्वपूर्ण प्रकाश डालती हैं। पर इनके अपने-अपने आचार एवं दस्तूर याज्ञवल्क्य के पहले भी प्रचलित थे।⁶ राजा उन्हें मान्यता प्रदान करता था। याज्ञवल्क्य पहले धर्मशास्त्रकार हैं जिन्होंने यह कहा कि राजा को श्रेणियों के प्रचलित आचारों को मान्यता देने के साथ-साथ उनका रक्षण करना एवं अनुपालन भी कराना चाहिए।⁷ बृहस्पति स्मृति से श्रेणि के गठन-सम्बन्धी कुछ क्रियाओं पर प्रकाश पड़ता है, जिनका उद्देश्य श्रेणि-सदस्यता के प्रत्याशी के साथ पारस्परिक विश्वास

-
1. किरन कुमार थपल्याल, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 82, पादटिप्पणी 188.
 2. द्रष्टव्य ऊपर।
 3. ए० के० कुमारस्वामी, दि इंडियन क्राफ्ट्समैन, पृ० 55.
 4. वही।
 5. तुलनीय किरन कुमार थपल्याल, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 82-83.
 6. उदाहरणार्थ, गौतम धर्मसूत्र, 11.20 और आगे।
 7. भेदं तेषां नृपो रक्षेत्पूर्ववृत्तिं च पालयेत्। - याज्ञवल्क्य स्मृति, 2.192.

उत्पन्न करना था। ये क्रियाएँ¹ थीं- 'कोश', 'लेख्यक्रिया' एवं 'मध्यस्थ' : इनमें से किसी एक के द्वारा पारस्परिक विश्वास उत्पन्न किया जा सकता था।

'कोश' (दिव्य)² के माध्यम से प्रत्याशी की सत्य-परीक्षा की जाती थी। उसे, अपने इष्टदेवता की प्रतिमा की अर्चना कर तथा उसका जल से प्रक्षालन कर, (प्रक्षालन के) उसी जल में से तीन अंजलि पानी पीना पड़ता था। फिर यदि कुछ निश्चित अवधि³ के अन्दर उसका कोई अनिष्ट नहीं होता था, तो उसे पवित्र मानकर श्रेणि की सदस्यता के लिए योग्य समझ लिया जाता था। 'लेख्य-क्रिया' श्रेणि के नियमों एवं विनियमों के प्रलेख (लेख्य) तथा उनके अनुपालन की लिखित प्रतिज्ञा से सम्बन्धित लगती है। 'मध्यस्थ' सम्भवतः एक प्रतिष्ठित व्यक्ति द्वारा श्रेणि-सदस्यता के प्रत्याशी के सदाचार के अनुप्रमाणन का संकेतक है। श्रेणी के प्रथागत आचारों एवं दस्तूरों के संरक्षण एवं उनकी वैधता प्रमाणित करने हेतु उनका जो प्रलेख तैयार किया जाता था उसे स्थितिपत्र⁴ या स्थितिपत्रक⁵ कहा गया है। इसमें श्रेणि के व्यावसायिक दस्तूरों के अतिरिक्त अन्य प्रमुख आचारों का भी लेखा रहता था।⁶

जो संघटित श्रेणी के सदस्य बनते थे वे श्रेणि द्वारा पहले से ही प्राप्त उसकी सम्पत्ति में समान रूप से अंशभागी हो जाते थे : यदि श्रेणि पर कोई ऋण रहता था तो उसकी देयता का भी समान रूप से उनका उत्तरदायित्व हो जाता था।⁷ इसी प्रकार श्रेणि के सामूहिक भोजन, विभाजित की जाने वाली वस्तुओं (जैसे अनाज आदि), एवं दानधर्म-क्रिया में भी वे समांशभागी होते थे।⁸ पर जो श्रेणि की सदस्यता छोड़कर उससे अलग हो

1 कोशेन लेख्यक्रियया मध्यस्थैर्वा परस्परम्।
विश्वासं प्रथमं कृत्वा कुर्युः कार्याण्यनन्तरम्॥ - बृहस्पति स्मृति, 17.7.

2. बृहस्पति स्मृति, पृ० 89, श्लोक 66, 67;
याज्ञवल्क्य स्मृति, 2.112-113;
नारद स्मृति, पृ० 125, श्लोक 329-30.

3 याज्ञवल्क्य में 14 दिन की अवधि दी गयी है। बृहस्पति स्मृति में त्रिरात्रम् (3 दिन) या पंचरात्रम् (5 दिन) का विधान किया गया है। नारद स्मृति में इस सन्दर्भ में सप्ताह या द्विसप्ताह का उल्लेख मिलता है।

4 बृहस्पति स्मृति, 6.19.

'आचार-स्थिति-पत्र' का उल्लेख छठीं शताब्दी के विष्णुषेण के अभिलेख में भी मिलता है (द्रष्टव्य आगे)। पर यह वणिक् लोगों के ग्राम (समूह) से सम्बन्धित है; एपि० इ०, जिल्द 30, सं० 30.

5 कात्यायन-स्मृति-सारोद्धार, श्लोक 254.

6. इसका अनुमान विष्णुषेण के अभिलेख से लगाया जा सकता है।

7. कात्यायन-स्मृति-सारोद्धार, श्लो० 675 (मूल पाठ एवं अंग्रेजी अनुवाद) ।

8. वही, श्लो० 676 (मूल पाठ एवं अनुवाद) ।

जाता था उसकी इनमें कोई भी अंशभागिता नहीं रह जाती थी।¹ समूह के रूप में श्रेणि को जो कुछ प्राप्त होता था या जो बचत होती थी या जो ऋण लेना पड़ता था अथवा उसे जो राजा के अनुग्रह (राजप्रसाद) से प्राप्त होता था उसमें उसके सभी सदस्यों की समान रूप से अंशभागिता होती थी।²

प्रत्येक श्रेणि का एक प्रमुख होता था। जातकों में प्रायः श्रेणि-प्रमुख को जेटुक³ कहा गया है। महाभारत⁴ में कई स्थलों पर श्रेणि के प्रधान के लिए श्रेणि-मुख्य शब्द मिलता है। महावस्तु⁵ में इसके लिए महत्तर शब्द भी मिलता है। बृहस्पति स्मृति⁶ में इसे अध्यक्ष एवं मुख्य कहा गया है। स्कन्दगुप्त के इन्दौर ताम्र-पत्र अभिलेख⁷ (465 ई०) में 'प्रवर' शब्द (एक तैलिक-श्रेणि के) प्रमुख के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। श्रेणि के प्रमुख का पद काफी प्रतिष्ठा का पद माना जाता था। पहले श्रेणि के सन्दर्भ में प्रमुख के पद के अतिरिक्त किसी अन्य पद का उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु याज्ञवल्क्य स्मृति⁸ (100-300 ई०) में पहले-पहल हमें श्रेणि में समूह के हित की बात बताने वाले (समूहहितवादिन्) धर्मज्ञ, शुचि एवं लोभरहित कार्यचिन्तकों (कार्यविचारकों) की भी व्यवस्था करने का विधान मिलता है। इस स्मृति में इन कार्यचिन्तकों के बताने के अनुसार समूह-हित में कार्य करना श्रेणि के सभी सदस्यों का कर्तव्य माना गया है।⁹ बृहस्पति स्मृति¹⁰ में श्रेणि के समूह-हित के प्रतिपादक कार्यचिन्तकों की संख्या (2, 3 या 5) का भी विधान मिलता है। इसके अनुसार, विद्वेषी, व्यसनी, भीरु, लुब्ध, अति वृद्ध, बालक आदि को कार्यचिन्तक नहीं बनाना चाहिए।¹¹ बृहस्पति ने कार्यचिन्तक की अर्हता के सन्दर्भ में सर्वकार्य-प्रवीणता¹² का भी उल्लेख किया है।

1. वही, श्लो० 676 (मूल पाठ एवं अनुवाद)।

2. वही, श्लो० 677 (मूल पाठ एवं अनुवाद); बृहस्पति स्मृति, 17.25.

3. द्रष्टव्य ऊपर, तुलनीय पुरुषोत्तम चन्द्र जैन, लेबर इन एन्शेंट इंडिया, पृ० 188 और आगे।

4. वही, आदि पर्व, 206. 127; वन पर्व, 249.16; इत्यादि।

5. द्रष्टव्य ऊपर।

6. बृहस्पति स्मृति, 17.17,20.

7. प्लीट, का० ई० ई०, जिल्द 3, सं० 16

8. याज्ञवल्क्य स्मृति, 2.191.

9. कर्तव्यं वचनं तेषां समूहहितवादिनाम्। - याज्ञवल्क्य स्मृति, 2.191.

पी० वी० काणे के अनुसार ये कार्यचिन्तक सलाहकार थे; कात्यायन स्मृति-सारोद्धार, पृ० 256, श्लो० 671 (अनुवाद) पादटिप्पणी। पर कुछ लोग इन्हें प्रबन्ध-अधिकारी (रमेश चन्द्र मजूमदार, प्राचीन भारत में संघटित जीवन, पृ० 51) या कार्याधिकारी (किरन कुमार थपल्याल, गिल्ड्स इन एन्शेंट इंडिया, पृ० 31) मानते हैं।

10. बृहस्पति स्मृति, 17.10.

11. वही, 17.8

12. वही, 17.9.

श्रेणियाँ अपने सामूहिक कार्यों के लिए विनियम बना सकती थीं, और अनुबन्ध के आधार पर अपने सदस्यों पर उपकर भी लगा सकती थीं। यदि कोई सदस्य सामूहिक अनुबन्ध-पत्र की उपेक्षा कर सभागृह, देवगृह, तडाक आदि बनवाने तथा अन्य सामूहिक कार्यों हेतु अपना निश्चित अंशदान नहीं करता था तो उसे आर्थिक दण्ड का भागी माना जाता था।¹ श्रेणी, पूग एवं राजा से द्वेष करने वाले को समूह से अलग करने अथवा नगर से निर्वासित करने का आग्रह भी बृहस्पति स्मृति² में मिलता है।

बृहस्पति स्मृति (17.11) में प्रत्येक सदस्य के अंशदान से सभागृह³ बनवाने के उल्लेख से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि श्रेणि के सदस्य समय-समय पर उसमें एकत्रित होकर सार्वजनिक कार्य-सम्पादन हेतु विचार-विमर्श करते थे। यह श्रेणि-संघटन में लोकतांत्रिक तत्त्व का द्योतक है।⁴ इस लोकतांत्रिक तत्त्व का स्पष्ट प्रमाण कात्यायन⁵ के एक श्लोक में मिलता है। इसके अनुसार यदि समूह की सभा में कोई सदस्य (member)⁶ युक्तिसंगत बात का विरोध करता है या वक्ता को बोलने का अवकाश नहीं देता है अथवा अनुचित बात बोलता है तो वह 'पूर्व साहस' दण्ड का भागी होता है। इससे ज्ञात होता है कि श्रेणि की सभा में सदस्यों को अपना विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता थी। श्रेणि के सदस्यों में आपस में संघात (हिंसात्मक संघर्ष) अथवा एक श्रेणि का दूसरी से उपघात होने की स्थिति में राजा द्वारा हस्तक्षेप कर उचित कार्यवाही करने का निर्देश नारद स्मृति⁷ में मिलता है। समूहों (श्रेणियों इत्यादि) एवं उनके मुख्यों के बीच विसंवाद (विरोध) होने पर भी राजा द्वारा हस्तक्षेप कर उन्हें सन्मार्ग पर लाने का आग्रह बृहस्पति स्मृति⁸ में है।

1. बृहस्पति स्मृति, 17 11, 12, 14.

2. श्रेणिपूगनृपद्विष्ट : क्षिप्रं निर्वास्यते ततः। - वही, 17.16.

3. पर सभागृह वे श्रेणियाँ ही बनवाती रही होंगी जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी रही होगी।

4. रमेश चन्द्र मजूमदार, प्राचीन भारत में संघटित जीवन, पृ० 53

5. युक्तियुक्तंच यो हन्यात् वक्तुर्यो नावकाशदः।

अयुक्तंचैव यो ब्रूयात् प्राप्नुयात् पूर्वसाहसम्॥

कात्यायन स्मृति-सारोद्धार, श्लो० 671.

6. कात्यायन-स्मृति-सारोद्धार, श्लोक 671 (पी० वी० काणे का अंग्रेजी अनुवाद)। रमेश चन्द्र मजूमदार के अनुसार, यहाँ केवल श्रेणी का प्रबन्ध-अधिकारी अभिप्रेत है (ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 54)। पर सन्दर्भ देखते हुए काणे का अनुवाद समीचीन प्रतीत होता है।

7. नारद स्मृति, पृ० 163, श्लो० 5.

8. बृहस्पति स्मृति, 17.20.

शिल्पि-श्रेणी में आबद्ध लोगों की अपनी विशिष्ट व्यावसायिक कार्य-संलग्नता के सामान्य रूप-भेद के सम्बन्ध में प्राचीन धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती है। नारद स्मृति¹ के एक श्लोक की व्याख्या के सन्दर्भ में मनु के भाष्यकार मेधातिथि (825-900 ई०) ने सम्भूयकारिता (साझेदारी) के आधार पर बने केवल संयुक्त रूप से कार्य करने वाले (गणशश्चारिणो) शिल्पि-समूहों- उदाहरणार्थ गृह, प्रासाद आदि के निर्माण करने वाले शिल्पि-समूहों- से 'समानकर्मजीवी' शिल्पि-श्रेणियों को भिन्न बताया है।² मेधातिथि के अनुसार, शिल्पि-श्रेणियों के सभी सदस्य संयुक्त रूप से और अकेले³, दोनों प्रकारों से काम करते थे। जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है, कभी-कभी शिल्पि-श्रेणि के सभी सदस्य मिलकर सामूहिक रूप से धार्मिक दान करते थे और समानकर्मोपजीवी होते हुए भी वे अपनी-अपनी शिल्प-शालाओं में अलग-अलग भी अपना कार्य करते थे। इसके अतिरिक्त शिल्पि-श्रेणि के कुछ लोग मिलकर साझेदारी में भी काम करते थे। कात्यायन स्मृति⁴ में शिल्पाचार्य, उसके दो कोटि के शिल्प-विद्यार्थियों एवं कुशल शिल्पियों द्वारा साझेदारी में कार्य निष्पादित किये जाने पर अलग-अलग लाभांशभागिता का विधान मिलता है। कात्यायन स्मृति⁵ से संकेत मिलता है कि कोई भी सदस्य श्रेणि की सदस्यता छोड़कर अलग हो जाने के लिये भी स्वतंत्र होता था।

ऊपर देखा जा चुका है कि श्रेणि को सामूहिक रूप से अपने सदस्यों के क्रिया-कलाप के विनियमन की महत्त्वपूर्ण शक्ति प्राप्त थी। याज्ञवल्क्य स्मृति से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसे अपने सदस्यों के ऊपर धर्मशास्त्र-सम्मत न्यायिक शक्ति भी प्राप्त थी। इस स्मृति⁶ में अवरोही क्रम में चार न्यायाधिकरणों का उल्लेख मिलता है- (1) राजा द्वारा नियुक्त व्यक्तियों का न्यायाधिकरण, (2) पूग (ग्राम, नगर आदि एक स्थान-

1. कुलानि श्रेणयश्चैव गणशश्चाधिकृतो नृपः।
प्रतिष्ठा व्यवहाराणां गुर्वेभ्यस्तूत्तरोत्तरम्॥
मनु० 8.2 पर मेधातिथि के भाष्य में उद्धृत।

2. मनु०, 8.2 पर मेधातिथि।

3. समानकर्मजीविन एकाकिनोऽपि।

कुछ विद्वानों के अनुसार, मेधातिथि का यह कथन कि श्रेणि के सदस्य एकाकी रूप से भी अपना विशिष्ट उद्योग करते थे पूर्व मध्यकाल में स्थानीय शिल्पियों एवं कारीगरों के श्रेणि-संगठन की संयोजक कड़ियों का ढीली हो जाना द्योतित करता है : उदाहरणार्थ, लल्लन जी गोपाल, दि ईकोनॉमिक लाइफ आफ नार्दर्न इंडिया, पृ० 81. पर श्रेणियाँ प्राचीन काल में भी सम्भूयकारिता (साझेदारी) पर आधारित संयुक्त रूप से कार्य करने वाली टोलियों के रूप में नहीं थीं जिनमें समानकर्मोपजीवन के दायरे में व्यक्तिगत उद्यम के लिए अवकाश न होता। अतः इसे पूर्व मध्यकाल में श्रेणियों के अपकर्ष का एक साक्ष्य मानना समीचीन नहीं लगता है।

4. द्रष्टव्य ऊपर।

5. कात्यायन-स्मृति-सारोद्धार, श्लोक 676.

6. याज्ञवल्क्य स्मृति, 2.30.

७.

निवासियों की सभा) का न्यायाधिकरण, (3) श्रेणि का न्यायाधिकरण, एवं (4) कुल (जाति-सम्बन्धी बन्धुओं) का न्यायाधिकरण। इनमें से प्रत्येक के निर्णय के विरुद्ध उच्चतर न्यायाधिकरण में अपील की जा सकती थी।¹ नारद स्मृति² में आरोही क्रम में कुल के, श्रेणि के, गण के, एवं राजा द्वारा अधिकृत न्यायाधिकरण के अतिरिक्त राजा के न्यायालय को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है। बृहस्पति³ ने भी राजा के न्यायालय को सबसे ऊँचा माना है।

श्रेणियों का हिंसात्मक अपराधों (साहस) को छोड़कर अन्य सभी आपसी विवादों के निर्णय का प्राधिकार बृहस्पति-स्मृति⁴ में मिलता है। कुछ विद्वान्⁵ बृहस्पति-स्मृति के विचारगत श्लोक में मिलने वाले कथन— 'कुर्युः कार्याणि ते नृणाम्' (उन्हें मनुष्यों के आपसी विवादों का निर्णय करना चाहिए) — के आधार पर यह मानते हैं कि ये श्रेणियाँ सामान्य न्यायालयों के रूप में थीं, जिनमें उनके सदस्यों के ही नहीं अपितु सभी लोगों के (नृणाम्) विवादों (साहस-सम्बन्धी वादों को छोड़कर) का निर्णय होता था। पर यह मत सन्दर्भ के अनुकूल न होने के कारण ग्राह्य नहीं लगता है। हिन्दू विधि-शास्त्र के विशेषज्ञ⁶ भी धर्मशास्त्र के साक्ष्य के आधार पर यही मानते हैं कि श्रेणि आदि स्थानीय न्यायाधिकरणों का प्राधिकार सीमित एवं प्रत्यायोजित (delegated) था और वे केवल उन्हीं विवादों का निर्णय कर सकते थे जो उनके विशिष्ट क्षेत्र एवं जानकारी के अन्तर्गत आते थे। इस प्रकार श्रेणि के न्यायाधिकरण के विशिष्ट क्षेत्र एवं जानकारी के अन्तर्गत उसके अपने सदस्यों के ही विवाद आ सकते थे।

अभिलेखीय साक्ष्यों से यह पता चलता है कि श्रेणियाँ स्थानीय बैंकों के रूप में भी काम करती थीं। श्रेणियों में स्थायी निधि के रूप में धन जमा कर उसके ब्याज से शाश्वत एवं सतत धार्मिक दान की व्यवस्था किये जाने के साक्ष्य मौर्योत्तर काल के कई अभिलेखों में प्राप्त होते हैं। जिन शिल्पि-श्रेणियों में इस प्रकार धन-निवेश करने के उल्लेख मिलते हैं वे जुलाहों की श्रेणि (कोलिकनिकाय), कुम्भकारों (कुलरिक) की श्रेणि, ओदयन्त्रिकों (जल-यन्त्र निर्माण करने वालों) की श्रेणि, तैलिकों (तिलपिषक) की श्रेणि, कांस्यकारों

1. अपील की यह व्यवस्था नारद स्मृति, बृहस्पति स्मृति आदि में मिलती है।

2. नारद स्मृति, पृ० 6, श्लो० 7.

3. बृहस्पति स्मृति, 1.95.

4. राज्ञा ये विदिताः सम्यक्कुलश्रेणिगणादयः।

साहसन्यायवज्यानि कुर्युः कार्याणि ते नृणाम्॥ - बृहस्पति स्मृति, 1.92.

5. रमेश चन्द्र मजूमदार, प्राचीन भारत में संघटित जीवन, पृ० 61-62.

6. उदाहरणार्थ, पी० एन० सेन, ऐन इंट्रोडक्शन टु हिन्दू जूरिसप्रूडेंस, पृ० 363.

(कासाकार) की श्रेणि, बाँस का काम करने वालों (वसकर) की श्रेणि आदि¹ हैं। शिल्पि-श्रेणि में धन-निवेश की परम्परा का साक्ष्य गुप्तकाल में भी मिलता है। स्कन्दगुप्त के इन्दौर ताम्रपत्र² (465 ई०) से ज्ञात होता है कि एक ब्राह्मण ने इन्द्रपुर की तैलिक श्रेणि में स्थायी निधि के रूप में कुछ धन जमाकर उस श्रेणि द्वारा एक सूर्य-मन्दिर में दीपक जलाने हेतु नित्य प्रति दो पल तेल दिये जाने की व्यवस्था की थी। इसी के साथ यह भी करार था कि अपने उस स्थान से अन्यत्र चले जाने पर भी श्रेणि अपने उक्त दायित्व का निर्वाह करती रहेगी। इन सब साक्ष्यों से यह स्पष्ट है कि विशेष रूप से उपर्युक्त प्रकारों की श्रेणियों की बड़ी साख थी और लोगों का उन पर बड़ा विश्वास था। लोग उनमें धन निवेश करते थे और वे उस पर ब्याज देती थीं। समृद्ध शिल्पि-श्रेणियों की अपनी मुहरें भी रही होगी। भीटा (इलाहाबाद जनपद, उ०प्र०) एवं बसाढ़ से प्राप्त 'कुलिक निगम' लेखवाली मुहरें उन शिल्पि-श्रेणियों की लगती है जिनके अध्यक्ष कुलिक कहे जाते थे।³ ये मुहरें इन श्रेणियों के व्यवस्थित व्यावसायिक क्रिया-कलाप पर प्रकाश डालती हैं।

शिल्पि-श्रेणियाँ सामूहिक रूप से धार्मिक एवं लोकहितकारी कार्य भी करती थीं। कुमारगुप्त और वन्धुवर्मा के मन्दसौर प्रस्तर-अभिलेख⁴ से ज्ञात होता है कि दशपुर में पट्टवायों (रेशम के बुनकरों) की एक श्रेणि ने 436 ई० में अपनी संचित धनराशि से सूर्य का एक मन्दिर बनवाया। कुछ समय बाद जब मन्दिर का एक भाग जीर्ण-शीर्ण हो गया तब उसी श्रेणि ने 472 ई० में उसकी मरम्मत करवायी। इसी प्रकार बहुत सी अन्य श्रेणियाँ भी धार्मिक कार्य करती रही होंगी। देवगृह का निर्माण बृहस्पति स्मृति⁵ में भी श्रेणियों के लिए विहित किया गया है। पर मन्दिरों का निर्माण स्पष्टतः समृद्ध श्रेणियाँ ही करवा सकती थीं।

श्रेणियों के क्रिया-कलाप में व्यावसायिक एवं धार्मिक कार्यों के अलावा विभिन्न लोकोपयोगी कार्य भी सम्मिलित थे। इस प्रकार के जिन कार्यों को श्रेणियाँ अपने सदस्यों की सामूहिक करार के आधार पर करवाती थीं, उनका उदाहरण हमें बृहस्पति स्मृति⁶ में मिलता है। इस प्रकार के कार्यों में यात्रियों के पानी पीने के लिए प्रपा (प्याऊ) की व्यवस्था करना, तडाग (सरोवर) खुदवाना, आराम (उद्यान) लगवाना आदि थे। इन कार्यों को सामान्य रूप से सभी श्रेणियों— व्यापारिक श्रेणियों एवं शिल्पि-श्रेणियों— के लिए विहित किया गया है।

1. द्रष्टव्य ऊपर। मथुरा से प्राप्त एक अभिलेख (106 ई०) में आटा बनाने वालों की श्रेणि में 550 पुराण की धन-राशि का 'अक्षय-नीवि' के रूप में स्थायी निवेश करने का उल्लेख मिलता है : एपि० इ०, जिल्द 21, पृ० 60.
2. फ्लीट, का० इ० इ०, जिल्द 3, सं० 16 (पृ० 70)।
3. द्रष्टव्य आगे, अध्याय 3.
4. फ्लीट, का० इ० इ०, जिल्द 3, सं० 16.
5. बृहस्पति स्मृति, 17.11.
6. बृहस्पति स्मृति, 17.11, 12 जॉली के अनुवाद के लिए द्रष्टव्य सेक्रिड बुक्स आफ दि ईस्ट, जिल्द 23, पृ० 347-48.

गुप्तोत्तर काल में, पूर्व मध्यकाल के प्रथम चरण में, राजनीतिक अस्थिरता के दौर, व्यापार एवं नगरों के हास तथा सामन्ती व्यवस्था के विकास के क्रम में शिल्पियों एवं व्यापारियों की श्रेणियों में भी हास¹ की प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है और उनके अपने आर्थिक क्रिया-कलाप का दायरा संकुचित होने लगता है। इस परिवेश में शिल्पि-श्रेणियों के विशिष्ट व्यावसायिक एवं सामूहिक संघटनात्मक स्वरूप तथा उनकी स्थिति में गिरावट आती है। सुसंगठित शिल्पि-श्रेणियों के व्यावसायिक स्वरूप के क्षरण एवं उनके विघटन का एक प्रारम्भिक उदाहरण हमें गुप्त काल के मन्दसौर प्रस्तर-अभिलेख² में मिलता है³ इसमें बताया गया है कि किस प्रकार लाट (दक्षिणी गुजरात) में बसे हुए रेशम के बुनकरों (पट्टवायों) की एक श्रेणि दशपुर नगर में जाकर बस गयी। वहाँ जाकर उनमें से कुछ लोग ही अपने वंशानुगत धन्धे (रेशम बुनने) में लगे रहे, जबकि अनेक लोग भिन्न-भिन्न व्यवसायों (संगीत, कथावाचन, ज्योतिष, सैनिक व्यवसाय आदि) में लग गये। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के रोम के साथ व्यापार में हास के कारण गुजरात की रेशम बुनकरों की इस श्रेणि को अपना स्थान छोड़कर देश के आन्तरिक अंचल में जाना पड़ा।⁴ पंचतन्त्र⁵ में एक रेशम आदि के उत्कृष्ट वस्त्र बनाने वाले कौलिक को व्यवसाय में मन्दी के कारण अपना अधिष्ठान छोड़कर दूर के एक नगर में जाने की कथा मिलती है। यह कौलिक उस काल का एक सामाजिक प्रतिमान है।

गुप्त काल एवं कुछ पहले से चली आ रही परम्परा पर प्रकाश डालने वाले मनु के प्रारम्भिक भाष्यकार भारुचि (600 ई० से 650 ई०) ने 'श्रेणी-धर्म' (मनुस्मृति, 8.41) की व्याख्या के सन्दर्भ में एक व्यवसाय या शिल्प में लगे वणिकों एवं कारुकों (शिल्पियों) के अपने-अपने संगठित समूहों की श्रेणी⁶ बताया है। महावस्तु (मौर्योत्तर काल) में भी नगरों से सम्बन्धित श्रेणि-वर्ग के अन्तर्गत श्रेणिगत शिल्पियों एवं कारीगरों के अतिरिक्त अपनी-अपनी श्रेणियों में संगठित हैरण्यिक (सोने, चाँदी एवं अन्य बहुमूल्य धातुओं के विक्रेता), घृतकुण्डिक (घी के विक्रेता), कार्पासिक (कपास-विक्रेता), शर्करावाणिज (चीनी के विक्रेता) आदि व्यापारियों के भी नाम

1 द्रष्टव्य ऊपर।

2 प्लैट, का० ई० ई०, जिल्द 3, संख्या 16.

3 अतीन्द्र नाथ बोस, सोशल ऐण्ड रूरल इकॉनमी आफ नार्दर्न इण्डिया, जिल्द 1, पृ० 297.

4 एस० के० मैती, ईकोनॉमिक लाइफ आफ दि गुप्त पीरियड, पृ० 138.

5 पंचतन्त्र, सं० एम० आर० काले, भाग 3, पृ० 25 और आगे।

6. इन दोनों के अतिरिक्त अन्य श्रेणियों में चारणों की श्रेणी का स्पष्ट उल्लेख किया गया है— मनु०, 8.41 पर भारुचि। अमरकोश (2.8.18) में भी 'पौराणां श्रेणयोऽपि' से स्पष्ट है कि श्रेणि शब्द नगर में रहने वाले व्यापारियों एवं शिल्पियों, दोनों के अपने-अपने समूहों के अर्थ में प्रयुक्त होता था। पर अमरकोश (2.10.5) के शूद्र-वर्ग में श्रेणी शब्द समानजातीय (सजातिभिः शिल्पि-समूह के अर्थ में भी दिया गया है। बाद के शब्दकोशों में भी अनेकार्थक श्रेणि शब्द व्यावसायिक समूह के अर्थ में कारुओं-शिल्पियों के समूह के लिए ही मिलता है— शाश्वत कोश, पृ० 49, श्लो० 24; वैजयन्ती, 6.5.90; हेमचन्द्र का अभिधान चिन्तामणि, 3.563.

मिलते हैं¹। यह स्पष्ट है कि महावस्तु में श्रेणि-वर्ग में शामिल सौवर्णिक² (सुनार) आदि शिल्पियों की श्रेणियों में भी कुछ ऐसे शिल्पी रहे होंगे जो सोने आदि की वस्तुओं के उत्पादक होने के साथ-साथ उनके विक्रेता (व्यापारी) भी रहे होंगे।³ पर आठवीं-नवीं शताब्दी ई० में याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विश्वरूप की 'श्रेणि' शब्द की व्याख्या⁴ में इस प्रकार के उत्पादन के साथ-साथ उसके विक्रय में लगे शिल्पियों के वर्ग का स्पष्ट संकेत नहीं मिलता है। इनकी व्याख्या निम्नवत् है :-

कर्मकरादिशिल्पिसमूहः श्रेणिः।

यहाँ, पूर्ण रूप से तो नहीं पर मुख्य रूप से, कर्मकर (वेतन पर काम करने वाले) शिल्पियों के समूह को ही श्रेणी माना गया है। विश्वरूप ने इसी सन्दर्भ में व्यापारियों के संगठित समूह को श्रेणी-वर्ग से अलग कर उसे गण-वर्ग के अन्तर्गत माना है।⁵ इससे शिल्पियों की श्रेणियों की आर्थिक स्थिति में हास का अनुमान लगाया जा सकता है। श्रेणि शब्द की इस व्याख्या से यह संकेत मिलता है कि अपने निजी साधनों से विक्रय हेतु सामान बनाने वाले बहुत से श्रेणिगत शिल्पी भी कर्मकर जैसी स्थिति में पहुँच गये थे। इस प्रकार की स्थिति पर नारद स्मृति पर असहाय (7वीं शताब्दी) की टीका से कुछ और अधिक प्रकाश पड़ता है। असहाय की इस टीका में शिल्पियों की श्रेणियों को प्रधानवणिक से प्रतिबद्ध प्रकृतियों (श्रेणियों) के रूप में व्याख्यायित किया गया है।⁶ नारद स्मृति के एक अन्य श्लोक की टीका में अष्टादश प्रकृति का उल्लेख शिल्पियों की अष्टादश श्रेणियों के अर्थ में किया गया है।⁷

1 महावस्तु, प्रथम खण्ड, सं० राधागोविन्द बसाक, भूमिका, पृ० 37, 38.

2 महावस्तु, प्रथम खण्ड, पृ० 37.

3 इस परम्परा का अभिलेखीय साक्ष्य भी मिलता है— वणिक-सुवर्णकार; भण्डारकर की लिस्ट, उद्धृत द्वारा डी० सी० सरकार, इंडियन एपिग्राफिकल ग्लॉसरी, पृ० 362.

4 याज्ञवल्क्य स्मृति, 2.192 पर; धर्मकोश, सम्पादक लक्ष्मण शास्त्री जोशी, जिल्द 1, भाग 2, पृ० 869 स्तम्भ 1.

5 वणिकसमूहो गणः— याज्ञवल्क्य स्मृति, 2.192 पर। पर बाद के याज्ञवल्क्य स्मृति के भाष्यकार विज्ञानेश्वर (11वीं शताब्दी) ने इस सन्दर्भ में व्यापारियों के समूह को श्रेणि से अलग नहीं किया है : उन्होंने 'गण' शब्द का बिल्कुल भिन्न अर्थ दिया है।

6 श्रेणयः प्रधानवणिकप्रतिबद्धाः प्रकृतयः।

असहाय की टीका, नारद स्मृति, पृ० 6, श्लो० 7. असहाय ने किसी एक शिल्प में लगे शिल्पियों की श्रेणी एवं 'प्रकृति' को समानार्थक माना है। अमरकोश (2.9.78-वैश्य वर्ग) में वणिक को व्यापारी बताया गया है— वैदेहकः सार्थवाहो नैगमो वाणिजो वणिकः। भट्टोत्पल (10वीं शताब्दी) की बृहत्संहिता (16.28) पर टीका में वणिकों को क्रय-विक्रयजीवी (क्रयविक्रयजीविनः) बताया गया है।

7. नारदस्मृति, पृ० 93, श्लोक 155 पर असहाय की टीका। शिल्पियों एवं कारीगरों की श्रेणि के अर्थ में 'प्रकृति' शब्द के प्रयोग के उदाहरण बाद के कई अन्य ग्रन्थों एवं अभिलेखों में भी मिलते हैं। शिल्पिनः कारवः प्रोक्ता प्रकृतिश्च मनीषिणः— हलायुधकोश (10वीं शताब्दी), 2.438; और भी द्रष्टव्य बी०एन०एस० यादव, सो०क०ना०इ०, पृ० 42.

शिल्पि-श्रेणियों के प्रधान व्यापारियों के आश्रित हो जाने और उनके प्रभुत्व में आने का संकेत हमें गुजरात के हेमचन्द्र (12वीं शताब्दी) के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित¹ में भी मिलता है। इसमें समृद्ध श्रेष्ठियों का उल्लेख मिलता है जो अष्टादश-श्रेणि-प्रश्रेणि रूपी दुर्ग/दुर्गों के पालक (पालन करने वाले) बताये गये हैं। यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये श्रेष्ठी कौन थे।

गुप्तोत्तर काल के कई साहित्यिक एवं अभिलेखीय स्रोतों में श्रेष्ठिन् शब्द समृद्ध व्यापारी या किसी व्यापारिक संगठन के अध्यक्ष के लिए प्रयुक्त किया गया है। सोमदेव सूरि (10वीं शताब्दी) के यशस्तिलक-चम्पू² में मिलने वाली एक कथा में व्यापारी गुणपाल को विश्वम्भर नरेश द्वारा शासित उज्जयिनी नगरी का (राज)- श्रेष्ठी बताया गया है।³ उसी नगर में रहने वाले वणिक्पति⁴ (व्यापारियों के संगठन के अध्यक्ष) श्रीदत्त को भी श्रेष्ठिन्⁵ कहा गया है। सभी वणिक्-व्यवहार में श्रेष्ठ एक अन्य स्थान के व्यापारी इन्द्रदत्त श्रेष्ठी⁶ का भी उल्लेख मिलता है। बृहत्कथाकोश में अधिक समृद्ध व्यापारियों को इभ्यश्रेष्ठी⁷ बताया गया है। ग्वालियर से 76 मील दक्षिण-पश्चिम से प्राप्त एक अभिलेख (विक्रम संवत् 1145) में व्यापारियों के एक संगठन के प्रधान श्रेष्ठिन् जासूक का नाम मिलता है और यह भी उल्लेख है कि विक्रमसिंह नरेश ने उसके वंशज चडोभ नगर के दो जैन व्यापारियों को श्रेष्ठिन् की उपाधि दी थी।⁸ परन्तु उस काल में शिल्प एवं व्यापार में पूर्ण रूप से अलगाव नहीं था। अतः एक स्थिति यह भी सम्भावित है कि कुछ क्षेत्रों में उपर्युक्त श्रेणियों-प्रश्रेणियों के संगठनों के पालक एवं संरक्षक श्रेष्ठिन् लोग अपनी-अपनी श्रेणि के प्रधान रहे हों जो बड़े शिल्पी होने के साथ-साथ समृद्ध व्यापारी⁹ भी रहे हों। इनकी और सामान्य शिल्पियों की आर्थिक स्थिति में बड़ा अन्तर रहा होगा।¹⁰ सुप्रसिद्ध

-
1. वही, श्री जैन आत्मानन्द शताब्दी सिरीज 1, पृ० 258. हेमचन्द्र ने अपने अधिधान चिन्तामणि (3.563) में 'श्रेणि' का अर्थ शिल्पियों एवं कारीगरों का समूह बताया गया है।
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में मिलने वाला 'प्रश्रेणि' शब्द श्रेणियों की शाखाओं या उनके विखण्डों के अर्थ में प्रयुक्त लगता है। प्रथम अर्थ श्रेणियों के विस्तरण एवं विकास का सूचक लगता है और दूसरा उनके विखण्डन एवं विघटन का। इस युग में शिल्पि-श्रेणियों के हास की प्रवृत्ति के परिप्रेक्ष्य में दूसरा अर्थ ही समीचीन हो सकता है।
 2. यशस्तिलक-चम्पू, उत्तर खण्ड, सम्पादक एवं अनुवादक सुन्दर लाल शास्त्री, वाराणसी, 1971.
 3. वही, पृ० 314, पंक्ति 10.
 4. वही, पृ० 315, पंक्ति 3. 'आपणिक-परिषत्' (वणिक्-परिषत्) का भी उल्लेख मिलता है; वही, पृ० 324, पंक्ति 1.
 5. वही, पृ० 319, पंक्ति 1
 6. वही, पृ० 317, पंक्ति 2.
 7. वनमाला मधोलकर, सोशियो-ईकोनॉमिक स्टडी आफ दि अली जैन कथा लिटरेचर (700-1200 ई०), पृ० 113.
 8. एच० सी० रे, डिनैस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया, जिल्द 2, पृ० 832.
 9. यादव प्रकाश (11वीं शताब्दी) के वैजयन्ती कोश में श्रेष्ठी को वैश्यवृत्ति से सम्बन्धित किया गया है- श्रेष्ठी वैश्यवृत्तितः; वैजयन्ती, 3.5.71; वैश्यवृत्ति में व्यापार प्रमुख था।
 10. द्रष्टव्य आगे।

ज्योतिष-ग्रन्थ सारावली¹ (नवीं शताब्दी) में भी जन्म-कुण्डली के ऐसे ग्रह-योग (ग्यारहवें भाव में शनि की स्थिति) का उल्लेख है, जिसका फल धन-सम्पत्ति से युक्त होना, लोगों पर अधिकार प्राप्त करना एवं शिल्पाश्रय (शिल्प एवं कारीगरी का आश्रय) होना बताया गया है। शिल्प एवं कारीगरी के आश्रय का स्पष्ट निहितार्थ शिल्पियों एवं कारीगरों का आश्रय होना है।

इस प्रकार असहाय की नारद स्मृति पर टीका, विश्वरूप की याज्ञवल्क्य स्मृति पर टीका, हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, एवं सारावली के उपर्युक्त सम्मिलित साक्ष्य से यह ज्ञात होता है कि सामान्यतः स्वायत्त शिल्पि-श्रेणियाँ समृद्ध व्यापारियों के आश्रित हो गयीं और उनके प्रभुत्व में आ गयीं। इससे यह लगता है कि कच्चे माल एवं आर्थिक सहायता के लिए वे व्यापारियों से प्रतिबद्ध होकर उन पर निर्भर हो गयीं और उनके बहुत से सदस्य काफी हद तक उन्हीं व्यापारियों के कर्मकर की भाँति हो गये।² इस स्थिति में शिल्प-श्रेणियों की स्वायत्तता काफी कम हो गयी होगी। पर इस प्रकार की स्थिति सर्वत्र न रही होगी : क्षेत्रीय एवं स्थानीय अन्तर भी रहे होंगे। अतः इसे हम एक प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में ही मान सकते हैं, जिसके क्रम में नगरों की श्रेणियों में ऐसे शिल्पियों की स्थिति गिर गई जो अपने कच्चे माल से सामान बनाकर उन्हें स्वयं बेचते भी थे।

शिल्पि-श्रेणियों के व्यापारियों के प्रभुत्व में आने का साक्ष्य हमें गुजरात-काठियावाड़ क्षेत्र के एक स्थान से प्राप्त 592 ई० के एक अभिलेख में भी मिलता है। इस अभिलेख में एक वणिक्-समूह (वणिग्ग्राम) के अनुरोध पर महासामन्त-महाराज विष्णुषेण द्वारा उसे प्रदान किये गये आचार-स्थिति-पत्र में अन्तर्विष्ट प्रथागत नियमों का विस्तृत विवरण मिलता है।³ इस सामन्ती अधिकार-पत्र में व्यापारियों को शिल्पियों के ऊपर अधिकार स्वीकृत किया गया है।⁴ इसमें सभी श्रेणियों (शिल्प-श्रेणियों) को सामूहिक हाट (एकापणक) न दिये जाने का

1. सारावली, 30 84; उद्धृत द्वारा बी०एन०एस० यादव, अध्यक्षीय भाषण (सेक्शन 1), इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, बम्बई सेशन (1980), पृ० 49-50. सामन्ती युग में निर्भरता एवं अधीनता के सम्बन्धों की महत्वपूर्ण भूमिका थी, जिन्हें हम राजनीतिक क्षेत्र में भी पाते हैं।

2. इसी प्रकार की स्थिति मध्ययुगीन यूरोप में भी मिलती है, विशेषकर उन शिल्पियों के सन्दर्भ में जो बड़े व्यापारियों के लिए उन्हीं की आर्थिक सहायता से बाहर भेजने के लिए सामान बनाते थे। हेनरी पिरन, ऊपर उद्धृत, पृ० 188. परन्तु कर्मकर के रूप में शिल्पियों के क्रिया-कलाप का सम्बन्ध व्यापारियों तक ही सीमित न रहा होगा। कात्यायन स्मृति (कात्यायन-स्मृति-सरोद्धार, श्लोक 603-605) से यह संकेत मिलता है कि व्यापारियों के अतिरिक्त अन्य लोग भी शिल्पियों (सुवर्णकार, तन्तुवाय आदि) को कच्चा माल (स्वर्ण, सूत आदि) देकर उनसे वेतन पर नये सामान बनवाते थे अथवा (पुरानी) वस्तुएँ उन्हें देकर उनका सुधार या मरम्मत करवाते थे, और एतदर्थ उन्हें वेतन देते थे। कात्यायन स्मृति के उपर्युक्त श्लोकों के उद्धरण पूर्व मध्यकाल (गुप्तोत्तर काल) के घर्मशास्त्र-ग्रन्थों- लक्ष्मीधर (12वीं शताब्दी) के कृत्यकल्पतरु के व्यवहारकाण्ड (पृ० 349); देवणभट्ट की स्मृति-चन्द्रिका (1200-1225 ई०), जिल्द 2, पृ० 182; आदि- में भी मिलते हैं।

3. एपि० इ०, जिल्द 30, संख्या 30.

4. डी० डी० कोसम्बी, जर्नल आफ दि ईकोनॉमिक ऐण्ड सोशल हिस्ट्री आफ दि ओरियण्ट, 2, पृ० 281 और आगे। राम शरण शर्मा, इंडियन फ्यूडलिज्म, पृ० 73.

विधान किया गया है¹, जो उनके लिए ग्राहकों के सम्पर्क में अधिक आने पर प्रतिबन्ध प्रतीत होता है। इससे शिल्पी अपनी-अपनी कार्यशाला के क्षेत्र में ही ग्राहकों से सम्पर्क कर सकता था, और यह व्यापारियों के हित में था जो स्वयं उत्पादक न होकर केवल सामानों के क्रेता एवं विक्रेता थे। श्रेणि-शब्द प्रायः शिल्पि-श्रेणियों के लिए ही प्रयुक्त होता था। पर यदि श्रेणियों के अन्तर्गत यहाँ व्यापारियों की श्रेणियों को भी मान लिया जाय तो भी स्थिति में अन्तर नहीं आता है। एक ही हाट उत्पादक शिल्पि-श्रेणियों और सामान खरीद कर बेचने वाले व्यापारियों की श्रेणियों को देने से दोनों के बीच वस्तुओं के विक्रय-मूल्य को लेकर ऐसी होड़ हो सकती थी जो स्पष्टतः व्यापारियों के हित के प्रतिकूल होती। इस स्थिति-पत्र² में लोहकार, रथकार, नापित, कुम्भकार आदि से वारिक³ द्वारा विष्टि (बेगार) लिये जाने की व्यवस्था भी दी गयी है।

गुप्तोत्तर काल में नगरों के हास एवं कृषि-प्रधान स्थानीय अर्थ-व्यवस्था के अधिक प्राधान्य के वातावरण में छोटे सीमित क्षेत्र की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिक शिल्पोत्पादन अभीष्ट नहीं हो सकता था। (कुछ नगरों में केवल दूर के क्षेत्रों को भेजने के लिए ही वस्त्रों आदि का उत्पादन अपेक्षाकृत बड़े पैमाने पर हो सकता था।) ऐसी स्थिति में अधिकतर शिल्पि-श्रेणियों के विशिष्ट व्यावसायिक स्वरूप का क्षरण एवं अपकर्ष दृष्टिगोचर होता है। वराहमिहिर की बृहत्संहिता⁴ में, जो सामान्यतः गुप्त काल की स्थिति पर प्रकाश डालती है, जाति, कुल एवं श्रेणी तथा उनके प्रधानों का अलग-अलग उल्लेख किया गया है। इस प्रकार वराहमिहिर ने जाति एवं श्रेणी में अन्तर किया है। पर दसवीं शताब्दी में भट्टोत्पल ने इस ग्रन्थ की टीका में श्रेणी को भी, एक कार्य या उद्योग में लगे शिल्पि-समूह का उल्लेख न कर, केवल समान जाति के लोगों के समूह के रूप में माना है⁵, और

1. सर्वश्रेणीनां एकापणको न देयः। एपि० इ०, ऊपर उद्धृत, आचार सं० 12. मौर्य काल की स्थिति पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ अर्थशास्त्र (4.2.18) में कारुओं एवं शिल्पियों द्वारा भी सामूहिक बाजार— जो पण्यसंस्थाध्यक्ष के अधीक्षण में होता था—में अपनी उत्पादित वस्तुओं के विक्रय करने का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार पहले के काल में शिल्पियों द्वारा अपनी उत्पादित वस्तुओं के सामूहिक बाजार में विक्रय करने पर प्रतिबन्ध नहीं मिलता है।
2. एपि० इ०, जिल्द 30, सं० 30, आचार संख्या 72. पूर्व मध्यकाल के द्वितीय चरण (11वीं-12वीं शताब्दी) में उत्तरी भारत के अधिकांश अभिलेखों में विष्टि का उल्लेख नहीं मिलता है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बाद में यह प्रथा काफी कम हो गयी होगी। राम शरण शर्मा, इंडियन फ्यूडलिज्म, पृ० 196.
3. प्रतीहार काल के एक अभिलेख में 'वार' शब्द स्थानीय नगर-प्रशासन की कार्यकारिणी के लिए प्रयुक्त किया गया प्रतीत होता है। भिनमाल के एक 11वीं शताब्दी के अभिलेख में एक व्यक्ति को एक वर्ष विशेष का वारिक बताया गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि वारिक-स्थानीय नगर-प्रशासन की कार्यकारिणी के सदस्य-बदलते रहते थे। यहाँ वारिक उस वणिगग्राम की कार्यकारिणी का सदस्य लगता है। कैलाश चन्द्र जैन, एन्शेंट सिटीज एण्ड टाउन्स आफ राजस्थान, पृ० 485.
4. बृहत्संहिता, 8.10— जातिकुलश्रेणीश्रेष्ठा...
5. समानजातीयानां संज्ञा (संघः) श्रेणी-बृहत्संहिता, 8.10 पर।

उसी समूह के प्रधान को श्रेणि का प्रधान बताया है। भट्टोत्पल ने वराहमिहिर के ग्रन्थों पर अपनी टीकाओं में सर्वत्र यही व्याख्या श्रेणी की दी है।¹ ज्योतिष से सम्बन्धित लोग भविष्य-कथन के उद्देश्य से अपने समय के व्यावहारिक यथार्थ के प्रेक्षण पर विशेष ध्यान केन्द्रित करते थे। इस दृष्टि से यह साक्ष्य महत्त्वपूर्ण लगता है। व्यवसाय की जगह जाति को शिल्पि-श्रेणियों का स्वरूप-लक्षण मानने पर बल देने से यह संकेत मिलता है कि उनके व्यावसायिक स्वरूप का बहुत से क्षेत्रों में काफी हद तक क्षरण हो गया था। इसके लिए व्यापार एवं नगरों के हास² के क्रम में शिल्पोत्पादन की आवश्यकताओं के घटने, उसके क्षेत्र में संकुचन एवं गतिशीलता की मन्दता विशेष रूप से उत्तरदायी रहे होंगे। पर यह नहीं समझा जा सकता है कि शिल्पि-श्रेणी का एक ही कार्य या उद्योग में संलग्नता-सम्बन्धी विशिष्ट व्यावसायिक पक्ष लुप्त हो गया और वह वास्तव में मात्र जाति-समूह रह गयी। अन्य स्रोतों³ के साक्ष्यों के प्रकाश में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि श्रेणी में समान-जातीयता का पक्ष प्रधान होने लगा और उसके एककर्मोपजीवन का विशिष्ट व्यावसायिक पक्ष गौण होने लगा।⁴ व्यापक परिप्रेक्ष्य में यह स्थिति बन्द अर्थव्यवस्था की सूचक है।

श्रेणियाँ पहले भी जाति-व्यवस्था के दायरे के बाहर नहीं थीं⁵, पर धर्मशास्त्र-परम्परा में श्रेणि की व्याख्या के सन्दर्भ में हमें प्रायः उसके एककर्मोपजीवन के विशिष्ट व्यावसायिक पक्ष के ही उल्लेख मिलते हैं। दूसरी प्रवृत्ति जिसे हम वराहमिहिर के बाद उसके ग्रन्थों पर भट्टोत्पल की टीकाओं में पाते हैं— और जो यथार्थ के अधिक निकट थी— श्रेणी को केवल समान जाति के लोगों का संघ मानने की थी।⁶ एक तीसरी प्रवृत्ति कुछ कोश-ग्रन्थों की परम्परा में मिलती है : इसमें शूद्र वर्ग के अन्तर्गत सजाति (समानजातीय) कारुओं या शिल्पियों के समूह को श्रेणि बताया गया है।⁷

1. उदाहरणार्थ, भट्टोत्पल की टीका, बृहत्संहिता, 10.13; 34.49 एवं बृहज्जातक, 8.18 पर।

2. राम शरण शर्मा, 'प्राब्लम आफ ट्रेनिजेशन फ्राम एन्शेंट टु मेडीवल इन इंडियन हिस्ट्री', दि इंडियन हिस्टोरिकल रिव्यू, जिल्द 1, पृ० 6.

3. द्रष्टव्य आगे।

4. समान जाति के लोगों के समूह के रूप में श्रेणि के काफ़ी सदस्य अपना विशिष्ट व्यवसाय छोड़कर कृषि आदि अन्य व्यवसायों को अपना लिए होंगे; द्रष्टव्य ऊपर, मन्दसौर अभिलेख का साक्ष्य।

5. उदाहरणार्थ, अमरकोश, 2.10.5.

6. द्रष्टव्य ऊपर।

7. अमरकोश, 2.10.5; वैजयन्ती, 6.5.90. पर इस परम्परा में शक संवत् 1033 के कोश-ग्रन्थ विश्वप्रकाश कोश (पृ० 49) एवं हेमचन्द्र (12वीं शताब्दी) के अभिधान चिन्तामणि (3.563) में 'सजाति' का उल्लेख न कर केवल शिल्पियों या कारुओं के समूह को श्रेणि बताया गया है।

11वीं शताब्दी में विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य स्मृति (2.30) की अपनी टीका में जाति के आयाम को भी एक विस्तृत परिप्रेक्ष्य में श्रेणि की पारम्परिक धर्मशास्त्रीय व्याख्या में निम्नवत् जोड़ा-

श्रेणयो नानाजातीनामेकजातीनामय्येककर्मोपजीविनां संघाताः।

इस प्रकार उन्होंने श्रेणि को नाना जातियों के या एक ही जाति के एककर्मोपजीवी लोगों का संघात (संगठित समूह) बताया। सम्भवतः पूर्व मध्यकाल के द्वितीय चरण में अर्थ-व्यवस्था में कुछ प्रगति एवं जाति-व्यवस्था के दृढ़ीभवन की पृष्ठभूमि में विज्ञानेश्वर ने इस प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत किया।

शिल्पियों एवं कारीगरों की श्रेणियों की संहति एवं सुसम्बद्धता के क्षरण की भी प्रवृत्ति पूर्व मध्यकाल में दृष्टिगोचर होती है। पहले के काल में, जैसा कि जातकों, महावस्तु अवदान, बृहस्पति स्मृति (17.20) आदि से ज्ञात होता है, एक श्रेणि का एक ही प्रमुख या मुख्य होता था। पर 10वीं शताब्दी में वराहमिहिर की बृहत्संहिता (85.11) पर अपनी टीका में भट्टोत्पल ने स्पष्ट रूप से दो प्रकार के जन-समूहों (जिनके अन्तर्गत श्रेणि भी परिगणित होती थी)।¹ की ओर संकेत किया है। एक प्रकार का समूह वह था जिसमें अर्थपतित्व (आर्थिक समृद्धि) के आधार पर एक ही प्रधान होता था।² दूसरे प्रकार के समूह में इसी आधार पर कई प्रधानों के होने एवं उनके बीच मुख्य का निर्धारण क्रमशः धनाढ्यता, जाति, विद्या एवं वय के आधार पर करने की बात कही गयी है।³

गुप्त काल के अभिलेखों में श्रेणि के प्रधान का नाम अपवादस्वरूप ही मिलता है⁴, पर गुप्तोत्तर काल के कई अभिलेखों में श्रेणि के एक से अधिक प्रधानों या प्रमुखों के नाम मिलते हैं। ग्वालियर (गोपगिरि) के वाइल्लभट्टस्वामिन्-अभिलेख (876 ई०) में एक तैलिक-श्रेणी के तीन महत्तकों (प्रधानों) एवं एक मालिक

1. उदाहरणार्थ, कात्यायनस्मृति-सारोद्धार, श्लो० 682; बृहस्पति स्मृति, 17.20 (मुख्यैः सह समूहानां विसंवादो यदा भवेत् ...)।

2 एवं 3. सार्थे जनसमूहे प्रधानमर्थपतिमुद्दिश्य। यदा... बहवः प्रधाना भवन्ति तदा साम्ये जातितो जातिसाम्ये विद्याया योऽधिकस्तम्। विद्यासाम्ये यो वयसोऽधिकस्तमिति। - बृहत्संहिता, 85.11 पर भट्टोत्पल।

बी० एन० एस० यादव, उपर्युक्त अध्यक्षीय भाषण, पृ० 47.

4. उदाहरणार्थ, फ्लीट, गुप्त अभिलेख, का० ई० 3, सं० 16.

(माली) श्रेणी के सात महारों (प्रधानों) के नाम गिनाये गये हैं।¹ ललितपुर (उ०प्र०) के सियादोनी अभिलेख² में भी कल्लपालों की श्रेणि के कई प्रधानों का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार एक ही श्रेणी में कई प्रधानों के हो जाने की स्थिति में उसके गुटों में विभाजित होने तथा उसकी एकता एवं सुसम्बद्धता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की सम्भावना का बढ़ जाना स्वाभाविक माना जा सकता है।

गुप्तोत्तर काल में कहीं-कहीं श्रेणि-प्रमुखों द्वारा अपने अधिकार बढ़ाकर अपनी-अपनी श्रेणि के सदस्यों पर प्रभुत्व स्थापित करने की भी प्रवृत्ति मिलती है। राजस्थान के एक अभिलेख (1028 ई०)³ में एक तैलिक-श्रेणी के प्रधान को तैलिकराज कहा गया है। देवपारा से प्राप्त बंगाल के एक अभिलेख⁴ (11वीं शताब्दी का अन्तिम चरण) में एक शिल्पि-श्रेणी के प्रधान शूलपाणि को शिल्पि-गोष्ठी-चूड़ामणि एवं राणक की उपाधियों से विभूषित किया गया है। राणक सामन्ती राजनीतिक व्यवस्था में निचले स्तर के अधीनस्थ शासकों का एक विरुद्ध था। इस प्रकार सामन्ती व्यवस्था का प्रभाव कुछ श्रेणि-प्रमुखों पर भी परिलक्षित होता है। इस काल के एक ज्योतिष-ग्रन्थ सारावली में भी श्रेणि के प्रधान⁵ एवं नायक⁶ के अतिरिक्त उसके अधिप⁷ (शासक) का भी उल्लेख मिलता है। श्रेणि के नायक का समीकरण ग्राम एवं नगर के शासक से किया गया है।⁸

विवेच्य काल में श्रेणियों की समृद्धि, प्रतिष्ठा एवं विश्वसनीयता काफी घट गयी थी। पहले के काल में, जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है, शिल्पि-श्रेणियों में स्थायी निधि के रूप में धन-निवेश कर उसके सूद से शाश्वत एवं सतत धार्मिक दान का विन्यास किया जाता था।⁹ परन्तु इस काल में श्रेणियों में इस प्रकार की

1. एपि० इ०, जिल्द 1, पृ० 159-60.

रमेश चन्द्र मजूमदार ने वाइल्लभट्टस्वामी मन्दिर के अभिलेख में उल्लिखित श्रेणियों में से प्रत्येक श्रेणि के अनेक प्रधानों (मुखिया लोगों-महत्तक, महर) को श्रेणि का प्रबन्ध-अधिकारी बताया है (प्राचीन भारत में संघटित जीवन, पृ० 51 पादटिप्पणी 3)। परन्तु श्रेणि के पदाधिकारियों को धर्मशास्त्र परम्परा में मुखिया न मानकर, कार्यचिन्तक और समूहहितवादिन् बताया गया है (याज्ञवल्क्य स्मृति, 2.191-92; बृहस्पति स्मृति, 17.8, 10)।

2. एपि० इ०, जिल्द 1, पृ० 175, पंक्ति 19.

3. एपि० इ०, जिल्द 23, पृ० 140.

4. वही, जिल्द 6, पृ० 311.

5. सारावली, 15.21.

6. वही, 26.34.

7. वही, 25.36, उद्धृत द्वारा बी० एन० एस० यादव, उपर्युक्त अध्यक्षीय भाषण, पृ० 50.

8. वही, पृ० 50, पादटिप्पणी 3.

9. द्रष्टव्य ऊपर।

स्थायी निधि जमा करने के स्पष्ट उल्लेख प्रायः नहीं मिलते हैं।¹ ललितपुर (उ०प्र०) के सियादोनी अभिलेख से ज्ञात होता है कि संवत् 969 में एक नमक के व्यापारी (वणिक्) ने 1350 श्रीमदादिवराहद्रम्म की धनराशि वहाँ के कल्लपालों एवं उनके महत्तकों (प्रधानों) को उनकी दुकानों की प्रतिभूति पर (हट्टानामुपरि) इस अनुबन्ध के साथ दिया कि वे प्रति मास शराब के प्रति सुरा-भाण्ड (cask) पर अर्धविग्रहतुंगीय द्रम्म श्री विष्णुभट्टारक (मन्दिर) को सतत देते रहें।² यहाँ यह संव्यवहार उस व्यापारी द्वारा समस्त कल्लपालों के पार्श्व से क्रय करने के रूप में उल्लिखित किया गया है।³ इसमें उसके द्वारा धार्मिक उद्देश्य से कल्लपालों की श्रेणि में उक्त धनराशि के स्थायी निवेश का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। दुकानों की प्रतिभूति पर धन देकर शाश्वत धार्मिक दान का विन्यास करना इस बात का साक्ष्य लगता है कि इन श्रेणियों की साख काफी हद तक गिर गयी थी।

श्रेणियों के न्याय करने के अधिकार का भी क्षरण इस काल में होने लगा। मनुस्मृति पर मेधातिथि के भाष्य⁴ से यह ज्ञात होता है कि श्रेणियों के सदस्यों को प्रायः अपने समूह के न्यायाधिकरण से समुचित न्याय प्राप्त करने का विश्वास नहीं होता था, और वे अपने विवादों को सीधे राजा के पास ले जाते थे। राजा के अधिकारियों को श्रेणियों के मामले में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल जाता था। ऐसी स्थिति में श्रेणियों का अपने सदस्यों पर नियन्त्रण शिथिल हुआ होगा और उनके न्यायिक कार्य का दायरा संकुचित हो गया होगा।

इस प्रकार गुप्तोत्तर काल की उपर्युक्त प्रवृत्तियों से यह स्पष्ट है कि इस काल में शिल्पि-श्रेणियों का अपकर्ष हुआ। सामान्य शिल्पियों एवं कारीगरों तथा उनकी श्रेणियों की सामाजिक स्थिति में इस काल में काफी गिरावट आयी, जिसके सम्बन्ध में आगे विचार किया जायेगा।⁵

-
1. तुलनीय लल्लन जी गोपाल, दि ईकोनॉमिक लाइफ आफ नार्दर्न इंडिया, पृ० 81.
 2. एपि० इ०, जिल्द 1, पृ० 175, पंक्ति 18-20. हट्ट शब्द बाजार और दूकान दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता था- पाइयसहमहणवो, पृ० 938.
 3. नेमकवणिक्-नागाकेन.....समस्तकल्लपालानां पार्श्वत् अपरिमितमूल्येन क्रीत्वा.....। एपि० इ०, जिल्द 1, पृ० 175, पंक्ति 19.
 4. मनु०, 8.2 पर मेधातिथि।
 5. द्रष्टव्य आगे, अध्याय 3.

शिल्पियों एवं कारीगरों की सामाजार्थिक स्थिति

ऋग्वैदिक काल में जनों के तो स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं पर समाज सुस्पष्ट वर्गों में विभक्त नहीं था। तथापि उस समय भी पुरोहितों और सैनिक नेतृत्व एवं शासन करने वालों के उदीयमान समुदाय थे, जिन्हें क्रमशः ब्रह्म एवं क्षत्र कहा जाता था। कृषि, पशुपालन एवं शिल्प-कर्म में लगे लोग विश् (सर्वसाधारण) के रूप में जाने जाते थे। इस प्रकार शिल्पियों एवं कारीगरों की भी ऋग्वैदिक आर्यों के समाज के सर्वसाधारण लोगों में गणना होती थी और उन्हें किसी भी प्रकार के सामाजिक लांछन से नहीं सम्बन्धित किया जाता था।¹

ऋग्वेद² में जिन शिल्पियों एवं कारीगरों के स्पष्ट नाम मिलते हैं वे हैं- तक्षन् (बढ़ई), कर्मार (धातु का काम करने वाले), हिरण्यकार (सुनार), चर्मन् (चर्मकार) एवं वासो-वाय (करघे पर कपड़ा बुनने वाले)। ऋग्वैदिक देवमण्डल में त्वष्टृ³ नामक देवता की अवधारणा अत्यन्त कुशल शिल्पी या कारीगर के रूप में की गयी है, जिसे इन्द्र के वज्र को गढ़नेवाला एवं ब्रह्मणस्पति के कुठार की धार को तेज करने वाला कहा गया है। इसी प्रकार छोटे देवताओं के अन्तर्गत ऋभुस् (रिभु, वाज एवं विभव) भी कुशल शिल्पियों के रूप में मिलते हैं।⁴ कुशल शिल्पियों के रूप में इन देवताओं की अवधारणाएँ ऋग्वैदिक समाज में शिल्पियों की प्रतिष्ठित सामाजिक स्थिति की द्योतक हैं।

ऋग्वैदिक काल के अन्तिम चरण में श्रेणि-बद्ध चतुर्वर्ण-व्यवस्था का उदीयमान रूप मिलता है। यह उत्तर वैदिक काल में अपने स्पष्ट रूप में परिलक्षित होती है। ऋग्वेद (10.90) के पुरुषसूक्त में ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य एवं शूद्र की उत्पत्ति विराट पुरुष के क्रमशः मुख, बाहुओं, जंघाओं एवं पैरों से अवधारित की गयी है। पर

1. तुलनीय रामशरण शर्मा, शू० ए० ई०, पृ० 31.

2. द्रष्टव्य ऊपर।

3. ए० ए० मैकडॉनल, वेदिक मिथॉलॉजी, पृ० 116-117. त्वष्टृ का नाम 65 बार ऋग्वेद में आया है; वही, पृ० 116.

4. वही, पृ० 131 और आगे।

उत्तर वैदिक काल में सामाजिक प्रतिष्ठा के अवरोही क्रम में चारो वर्णों के अभिधान— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र— सुनिश्चित हो जाते हैं।

ऋग्वेद (10.90) में समाज के निम्नतम वर्ग के रूप में शूद्र का उल्लेख केवल एक बार ही पुरुषसूक्त में आता है। उत्तर वैदिक काल में अथर्ववेद के रचना-काल के अन्त में ही हम समाज के एक वर्ग के रूप में शूद्रों को पाते हैं।¹ इसी समय शायद पुरुषसूक्त ऋग्वेद की संहिता में जोड़ा गया। उत्तर वैदिक काल में निम्नतम वर्ण— शूद्र वर्ण— का उदय आर्यों तथा आर्येतरों के बहुत से समुदायों के, आन्तरिक एवं बाह्य संघर्षों के कारण, विपन्न स्थिति में पहुँच जाने के क्रम में हुआ।² जो लोग पशुधन, भूमि एवं उसके उत्पादन से वंचित होकर विपन्न स्थिति में पहुँच गये उनकी गणना समाज में चतुर्थ वर्ग के रूप में की जाने लगी।³

वर्णों के कर्तव्यों एवं अधिकारों पर भी उत्तर वैदिक काल के ग्रन्थों में यत्र-तत्र प्रकाश पड़ता है। इस काल में ऊँच-नीच के अनुक्रम वाली श्रेणीबद्ध चतुर्वर्ण-व्यवस्था का उदय कृषि, शिल्प एवं कारीगरी, व्यापार एवं विनिमय, श्रम-विभाजन की प्रक्रिया एवं राज्य-निर्माण में क्रमिक विकास एवं प्रगति की पृष्ठभूमि में ही सम्भव हुआ होगा। अपने संस्थागत रूप में आने के बाद फिर यह व्यवस्था श्रम-विभाजन की प्रक्रिया के गहरी होने में सहायक सिद्ध हुयी होगी।

उत्तर वैदिक काल में अपना संस्थागत स्वरूप प्राप्त करने वाली चतुर्वर्ण-व्यवस्था में शिल्पियों एवं कारीगरों के समुदाय को निम्नतम शूद्र वर्ण में स्थान दिया जाने लगा।⁴ मैत्रायणी-संहिता (4.2.7, 10) एवं पंचविश ब्राह्मण (6.1.11) में शूद्रों के पशुधन से युक्त होने के भी साक्ष्य मिलते हैं।⁵ पर उनके कार्यों के सम्बन्ध में उत्तर वैदिक काल के ग्रन्थों में मिलने वाले कुछ साक्ष्यों से यह ज्ञात होता है कि उन्हें सेवा करने वालों के वर्ग के रूप में माना जाता था।⁶ कई अन्य कथन भी इसका संकेत करते हैं कि शूद्र श्रमिक वर्ग के लोग थे। पुरुषमेध यज्ञ में एक शूद्र को श्रम के लिए (तपसे) समर्पित करने के उल्लेख मिलते हैं।⁷ यहाँ शूद्र को कठिन

1. रामशरण शर्मा, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 34.

2 एवं 3 वही, पृ० 45. इस प्रकार के ये मत कि शूद्र-वर्ण में आर्येतर लोग ही शामिल किये गये थे अथवा इस वर्ण में मुख्य रूप से आर्य लोग ही थे एकांगी एवं अतिरंजित प्रतीत होते हैं।

4. रामशरण शर्मा, शू०ए०इ०, पृ० 53.

5. वही, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 49.

6. जैमिनीय ब्राह्मण, 1.68-69; उद्धृत द्वारा रामशरण शर्मा, शू०ए०इ०, पृ० 49 पादटिप्पणी 2.

7. वाजसनेयि संहिता, 30.5; शतपथ ब्राह्मण, 13.6.2.10.

श्रम का प्रतीक माना गया है। इन साक्ष्यों से यह लगता है कि शूद्र लोग आर्यों के समाज के विश् (सर्वसाधारण) के वर्ग से पृथक् कर दिये गये।

तथापि उस काल में कृषि-कार्य या शिल्प एवं कारीगरी को हेय दृष्टि से देखे जाने का कोई प्रमाण नहीं मिलता है।¹ चर्मकार के भी कार्य को हेय मानने का कोई भी साक्ष्य नहीं है।² इस प्रकार उत्तर वैदिक काल में शारीरिक श्रम के प्रति तिरस्कार की भावना नहीं मिलती है।³ उत्तर वैदिक काल में रचित कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता (2.6.5; 4.3.8) में हमें चौदह रत्निन् लोगों की तालिका मिलती है, जिनके घरों पर राजा राजसूय यज्ञ के प्रारम्भिक कृत्यों से सम्बन्धित रत्न-हवींषि अनुष्ठान के दौरान क्रमिक दिनों में जाता था और वहाँ उपयुक्त देवताओं की उपासना करता था।⁴ इन रत्निन् लोगों का इतना महत्त्व था कि इनको इस संहिता (4.3.8) में शासन-शक्ति के अंगों के रूप में माना गया है।⁵ रत्निन्-तालिका में ब्रह्मन्, राजन्य, महिषी, सेनानी, संगृहितृ, भागदुघ, वैश्य-ग्रामणी, आदि के साथ दो शिल्पियों— तक्षन् (बढ़ई) एवं रथकार (रथ बनाने वाला)— के भी नाम मिलते हैं।⁶ यह वैदिक काल के राज्य में, विशेष रूप से, इन शिल्पियों के सामाजिक एवं राजनीतिक महत्त्व का द्योतक है।⁷ तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता आदि में इन दोनों शिल्पियों के नाम रत्निन्-तालिका में नहीं मिलते हैं। पर आपस्तम्ब श्रौतसूत्र एवं सत्याषाढ श्रौतसूत्र की तालिकाओं में इन्हें शामिल किया गया है।⁸ तैत्तिरीय ब्राह्मण (1.1.4) से ज्ञात होता है कि रथकार को वैदिक यज्ञ करने का भी अधिकार था।⁹

पहले देखा जा चुका है कि वैदिक काल के पश्चात् लगभग छठी शताब्दी ईसवी पूर्व से प्राङ्मौर्य काल तक की अवधि में कृषि, उद्योग-धन्धों, व्यापार, नगरीकरण, राज्य-निर्माण एवं सिक्कों के माध्यम से विनिमय

1. रामशरण शर्मा, शू० ए० ई०, पृ० 53.

2. एस० के० दास, दि ईकोनॉमिक हिस्ट्री आफ एन्शेंट इंडिया, पृ० 139-40.

3. इसी प्रकार की स्थिति प्राचीन यूनान में हेसिऑड से सुकरात के काल (लगभग 800 से 400 ई०पू०) में भी मिलती है : पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट, नम्बर 6, पृ० 1, उद्धृत द्वारा रामशरण शर्मा, शू०ए०ई०, पृ० 54.

4. एवं 5. यू० एन० घोषाल, स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० 303, 304.

6. वही, पृ० 303.

7. तुलनीय वही, पृ० 307. यू० एन० घोषाल के अनुसार, यहाँ सामाजिक वर्गों के राजनीतिक प्रतिनिधित्व का प्रमाण मिलता है; वही, पृ० 307.

8. रामशरण शर्मा, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 55.

9. पी० वी० काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जिल्द 2, भाग 1, पृ० 45.

के क्षेत्रों में महत्वपूर्ण प्रगति हुयी।¹ नगरों में उद्योग-धन्धों की संख्या बढ़ने के साथ-साथ शिल्पियों एवं कारीगरों के वर्ग का भी विस्तार हुआ, और वे अपने-अपने शिल्पों के आधार पर सुस्पष्ट समूहों (श्रेणियों) में संगठित हो गये।² उत्तर वैदिक काल से चली आ रही परम्परा के अनुसार, शिल्पी एवं कारीगर शूद्र वर्ण के अन्तर्गत माने जाते थे। पर बौद्ध धर्म से सम्बन्धित प्रारम्भिक पालि ग्रन्थों में शिल्पियों एवं कारीगरों के वर्ण का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है।³ शिल्पों तथा शूद्र वर्ण का पूर्ण सामंजस्य भी नहीं मिलता है। जातक⁴ की एक कथा में मिलता है कि एक ब्राह्मण गाड़ी बनाने की वृत्ति से अपनी जीविका चलाता था : इस प्रकार वह वर्धकी (बढ़ई) का व्यवसाय करता था। बौधायन धर्मसूत्र (1.5.10.24) से भी ज्ञात होता है कि कुछ ब्राह्मण शिल्प-वृत्ति करते थे, यद्यपि उनके साथ शूद्र जैसा व्यवहार करने का विधान किया गया है। धर्मसूत्रों⁵ में शिल्प-वृत्ति को भी शूद्रों की जीविका का साधन विहित किया गया है। पर यहाँ आदर्श और सामाजिक यथार्थ में अन्तर मिलता है।

प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में शिल्पों तथा निम्नतम शूद्र वर्ण का पूर्ण सामंजस्य न मिलने के बावजूद कुछ शिल्पों को हेय दृष्टि से देखे जाने का प्रमाण मिलता है। विनय पिटक⁶ में शिल्पों को दो कोटियों में वर्गीकृत किया गया है— (1) उक्कट्ठ सिप्प एवं (2) हीन सिप्प। प्रथम कोटि के अन्तर्गत— कृषि, पशुपालन एवं व्यापार को छोड़कर— वे शिल्प (मुद्रा, गणना, लेखा आदि) हैं, जिन्हें उत्कृष्ट एवं प्रतिष्ठित माना जाता था। यह स्पष्ट है कि इनमें संलग्न लोगों की सामाजिक प्रतिष्ठा अपेक्षाकृत अधिक रही होगी। द्वितीय कोटि के शिल्पों (हीन शिल्पों— हीनसिप्प) में लगे शिल्पियों के समुदाय निम्नलिखित थे :-

नलकार (नरकुल का काम करने वाला— नरकुल की डलिया, टोकरी आदि बनाने वाला), कुम्भकार, पेसकार (जुलाहा), चम्मकार (चर्मकार) एवं नहापित (नाई)⁷। पर एक-दूसरे स्थल पर बुनकर, बाँस का काम करने वाले, कुम्भकार एवं नाई के व्यवसायों को सामान्य शिल्पों के रूप में परिगणित किया गया है।⁸ इससे यह

1. एवं 2 द्रष्टव्य अध्याय 1.

3. रामशरण शर्मा, शू० ए० इ०, पृ० 98.

4. जातक, 4 207

5. उदाहरणार्थ, गौतम धर्मसूत्र, 10.60.

6. विनय पिटक, 4.6 और आगे।

7. वही, 4.7; नरेन्द्र वागले, सोसाइटी ऐट दि टाइम आफ दि बुद्ध, पृ० 135. वागले ने पेसकार का अर्थ दर्जी ग्रहण किया है, पर यह शब्द अधिकतर जुलाहा या बुनकर के अर्थ में ही प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है; टी० डब्ल्यू० रिस डेविड्स एवं विलियम स्टीड, पालि-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० 473; रिचर्ड फिक, सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ-ईस्ट इंडिया इन बुद्धि टाइम, पृ० 327. नलकार को बाँस का काम करने वाला भी माना जाता था; रामशरण शर्मा, शू० ए० इ०, पृ० 137.

8. दीघ निकाय, 1.51; उद्धृत द्वारा रामशरण शर्मा, शू० ए० इ०, पृ० 137.

स्पष्ट है कि चर्मकार के शिल्प को छोड़कर अन्य हीन माने जाने वाले उपर्युक्त शिल्पों को कुछ लोग हेय दृष्टि से नहीं देखते थे। इसके बावजूद इतना तो स्पष्ट लगता है कि सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुक्रम में हीन माने जाने वाले शिल्पों में लगे शिल्पियों का स्थान, अन्य शिल्पों में लगे लोगों की तुलना में, काफी निम्न हो गया होगा। निम्न स्तर वाले शिल्प-समुदायों के सम्बन्ध में भी ऊँच-नीच का भेद करने की प्रवृत्ति के कुछ प्रमाण मिलते हैं।¹ इस प्रकार कुम्भकार का सामाजिक स्तर उतना निम्न नहीं बताया गया है जितना जुलाहे का है।²

प्रारम्भिक पालि ग्रन्थों³ में प्रायः वेण (बाँस का सामान बनाने वाला) एवं रथकार को निम्न कुलों (निचकुल) या घटिया जातियों (हीन जाति) के 5 समुदायों के अन्तर्गत माना गया है। रिचर्ड फिक⁴ के अनुसार ये दोनों आदिवासी जनजातियों से सम्बन्धित थे, जिन्हें निम्न माना जाता था। वेण का सम्बन्ध आदिवासी जनजाति से हो सकता है, पर, जैसा कि पहले देखा जा चुका है, वैदिक काल के ग्रन्थों में रथकार (रथ बनाने वाले) आर्यों के समाज में एक व्यावसायिक समुदाय के रूप में मिलते हैं। बौधायन गृह्यसूत्र (2.5.6) एवं भारद्वाज गृह्यसूत्र के अनुसार रथकार को उपनयन⁵ का अधिकार था और इस प्रकार वह शूद्र वर्ण के अन्तर्गत नहीं था। पर बौधायन धर्मसूत्र (1.9.6) में उसे एक मिश्रित जाति (वैश्य पिता एवं शूद्र माता की सन्तान) माना गया है। इस प्रकार रथकारों की सामाजिक स्थिति में गिरावट आ गयी।

अपेक्षाकृत बाद के जातक⁶ के साक्ष्यों के आधार पर यह मत⁷ व्यक्त किया गया है कि रथकारों की सामाजिक स्थिति गिरने का कारण उनमें से कुछ लोगों का रथ-निर्माण के कार्य के अतिरिक्त चमड़े का कार्य अपना लिया जाना था। पर चर्मकार के शिल्प को निम्न (हीन)⁸ मानने के बावजूद उसे हीन जाति का नहीं बताया गया है। इस प्रकार रथकार की सामाजिक स्थिति में गिरावट का कोई अन्य कारण रहा होगा। रथकार युद्ध

1 एवं 2. रामशरण शर्मा, शू० इ०, पृ० 137-38; अतीन्द्र नाथ बोस, सोशल ऐण्ड रुरल इकॉनमी आफ नार्दर्न इंडिया, जिल्द 2, पृ० 242, 243.

3. मज्झिम निकाय, 3. 169-78; 2.152, 183-4; विनयपिटक, 2.6; इत्यादि। रामशरण शर्मा, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 138. इस श्रेणी में परिगणित किये जाने वाले अन्य समुदाय थे चण्डाल, निषाद एवं पुक्कुस, जो आदिवासी जनजातीय समुदायों से सम्बन्धित थे और तिरस्कृत जातियों के रूप में तत्कालीन वर्ण-जाति-प्रधान समाज में शामिल कर लिये गये थे।

4. पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 326.

5. पी० वी० काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जिल्द 2, भाग 1, पृ० 94.

6. जातक, 4.172; 6.51.

7. अतीन्द्रनाथ बोस, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, जिल्द 2, पृ० 237.

8. द्रष्टव्य ऊपर।

के लिए रथ बनाता था और बौद्धों की हिंसापूर्ण युद्धों के प्रति विरुचि थी। हो सकता है कि यही दृष्टिकोण रथकार की सामाजिक स्थिति में गिरावट का कारण रहा हो।¹ पर इसकी स्थिति में गिरावट का संकेत बौधायन धर्मसूत्र में भी मिलता है, जो धर्मशास्त्र-परम्परा से सम्बन्धित है।²

प्रारम्भिक बौद्ध पालि ग्रन्थों में हम शिल्पियों द्वारा पैतृक व्यवसाय अपनाने की अत्यन्त सामान्य प्रथा के प्रमाण पाते हैं, पर यह प्रथा किसी भी प्रकार से कठोर नहीं थी।³ शिल्पियों की अवस्थिति-सम्बन्धी सामाजिक जीवन के कई रूप दृष्टिगोचर होते हैं। नगर में अलग-अलग शिल्पों से सम्बन्धित शिल्पियों के अलग-अलग वीथियों में रहने के प्रमाण मिलते हैं। उदाहरणार्थ, एक जातक⁴ कथा में वाराणसी नगर की दन्तकार (हाथी-दाँत का काम करने वालों) की वीथी का उल्लेख मिलता है। पर कुछ शिल्प ऐसे थे जिनसे सम्बन्धित कार्य नगर के बाहर समीप के ग्रामों में किये जाते थे। कुछ जातक⁵ कथाओं में वाराणसी के पड़ोस के वड्डकिगाम (बढ़इयों के ग्राम) का उल्लेख मिलता है। नगरों के पास में स्थित कुम्भकारों के ग्राम⁶ का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इसी प्रकार सुचि जातक⁷ में कम्मारों (लोहारों) के दो ग्रामों का उल्लेख मिलता है।

नगरों की वीथियों एवं अपने-अपने ग्रामों में रहने वाले शिल्पियों एवं कारीगरों के अपने-अपने संगठन होते थे, जिनका प्रमुख जेठुक कहलाता था।⁸ कुछ जातकों से ज्ञात होता है कि जेठुक प्रायः धन-सम्पत्ति से समृद्ध एवं सम्मान्य होते थे और कभी-कभी राजा के कृपापात्र भी बन जाते थे।⁹ सामाजिक प्रतिष्ठा एवं आर्थिक समृद्धि में इनका स्तर श्रेणि के सामान्य सदस्यों की अपेक्षा काफी ऊँचा रहा होगा।

शिल्पियों की उपर्युक्त दो अवस्थितियों के अतिरिक्त, जैसा कि पाणिनि की अष्टाध्यायी से ज्ञात होता है, मिश्रित आबादी वाले ग्रामों में भी शिल्पी रहते थे। इनके उस प्रकार के संगठन नहीं रहे होंगे, जो नगरों एवं उनके

1. रामशरण शर्मा, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 142.

2. द्रष्टव्य ऊपर।

3. तुलनीय सन्तोष कुमार दास, दि ईकोनॉमिक हिस्ट्री आफ एन्शेंट इंडिया, पृ० 68

4. जातक, 1.320.

5. जातक, 2.18, 405; 4.159.

6. जातक, 3.376.

7. जातक, 3.281; द्रष्टव्य ऊपर।

8. जातक, 3.405; 4.161 इत्यादि। रिचर्ड फिक, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 283.

9. रतिलाल एन० मेहता, प्री-बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० 215. सुचि जातक (3.281) में इस प्रकार के एक श्रेणि के अध्यक्ष का नाम मिलता है जो लोहार था।

समीप के अपने-अपने ग्रामों में रहने वाले शिल्पियों के थे। अष्टाध्यायी में हमें ग्राम-शिल्पिन्¹ एवं ग्राम-तक्षा² के उल्लेख मिलते हैं। ग्राम की कृषिक अर्थ-व्यवस्था में इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा होगा। पर इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा एवं आर्थिक स्थिति निम्न रही होगी।

एक ही शिल्प में संलग्न शिल्पियों में धन-सम्पत्ति के आधार पर स्पष्ट स्तर-भेद के अन्य साक्ष्य भी मिलते हैं। जैन ग्रन्थ उवासग-दसाओ में सद्दालपुत्त नामक एक कुम्भकार का उल्लेख मिलता है, जो 500 कुम्भकार-कार्यशालाओं का स्वामी और अत्यन्त समृद्ध बताया गया है।³ एक दूसरे जैन ग्रन्थ भगवती सूत्र⁴ में हालाहला नामक एक समृद्ध कुम्भकार स्त्री का उल्लेख है। ये दोनों मकखलि गोसाल के अनुयायी थे।⁵ दूसरी ओर बौद्ध ग्रन्थ विनय पिटक⁶ में घटिकार कुम्भकार का उल्लेख मिलता है, जो इतना गरीब था कि भिक्षुओं को केवल दाल-भात का ही भोजन दे सकता था। स्वतन्त्रता एवं आश्रितत्व के आधार पर भी शिल्पियों एवं कारीगरों में भेद मिलता है। कुछ जातकों⁷ के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि दर्जी (तुन्नकार), तन्तुवाय आदि सेट्टि एवं गहपति लोगों से सम्बद्ध होकर उनके आश्रित हो जाते थे। इस प्रकार अपने ही समुदाय के स्वतन्त्र रूप से शिल्प-कर्म करने वालों से उनकी स्थिति भिन्न हो जाती रही होगी। पर ऐसे शिल्पी अधिक न रहे होंगे।

कुछ जातक कथाओं में विशिष्ट कोटि के शिल्पियों के भी उल्लेख मिलते हैं, जो केवल राजमहल एवं राजदरबार की सेवा में रहते थे, उदाहरणार्थ, राजकुम्भकार⁸, राजपट्टाक नलकार⁹, राजमालाकार¹⁰ इत्यादि। ये सामाजिक प्रतिष्ठा में अपने-अपने वर्ग के लोगों से काफी ऊपर उठ गये रहे होंगे; और इस प्रकार इनका किसी श्रेणि-संगठन का सदस्य होना सम्भव न रहा होगा।¹¹ पाणिनि की अष्टाध्यायी (6.2.63) में भी हम राजशिल्पिन्,

1. अष्टाध्यायी, 6.2.62.

2. वही, 5.4.95. वा०श० अग्रवाल, इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० 229.

3. उद्धृत द्वारा ए०एल० बाशम, हिस्ट्री ऐण्ड डाक्ट्रिन्स आफ दि आजीविकस्, पृ० 115, 132.

4. ए० एल० बाशम, वही, पृ० 31, 32, 132.

5. द्रष्टव्य आगे, अध्याय 4.

6. उद्धृत द्वारा नरेन्द्र वागले, सोसाइटी ऐट दि टाइम आफ दि बुद्ध, पृ० 139, 186 पादटिप्पणी 39.

7. जातक, 6.38; 3.258 और आगे। रामशरण शर्मा, शू० ए० इ०, पृ० 99.

8. जातक, 5.290; 1.121.

9. वही, 5.291.

10. वही, 5.292.

11. रिचर्ड फिक, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 287.

राजनापित एवं राजकुलाल के उल्लेख पाते हैं। वासुदेव शरण अग्रवाल¹ के अनुसार ये विशिष्ट कौशल-सम्पन्न शिल्पी थे, जिन्हें राज्याश्रय प्राप्त रहा होगा। पर जातकों के साक्ष्य के आलोक में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये राज-सेवा में भी रहे होंगे।

अर्थशास्त्र² में किलेबन्दी से युक्त राजधानी के नगर के अलग-अलग क्षेत्रों में विभिन्न लोगों को बसाने हेतु दी गयी युक्ति³ से मौर्यकाल में शिल्पियों एवं कारीगरों के ऊँच-नीच के अनुक्रम⁴ का संकेत मिलता है। धातुओं एवं जवाहरात का काम करने वाले शिल्पियों (स्वर्णकार, जौहरी आदि) को ब्राह्मणों के साथ उत्तर दिशा में बसाने का निर्देश किया गया है। शिल्पियों के वर्ग में इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा सबसे ऊँची रही होगी। इनसे नीचे गान्धिक, मालाकार एवं प्रसाधन का सामान बनाने वालों का स्थान रहा होगा, जिन्हें पूर्व दिशा में क्षत्रियों के साथ बसाने के लिए कहा गया है। सबसे निम्न स्तर ऊन, सूत, बाँस एवं चमड़े का काम करने वालों तथा हथियार, कवच एवं ढाल बनाने वालों का रहा होगा, जिन्हें सामान्य शूद्रों के साथ पश्चिम दिशा में बसाने की व्यवस्था दी गयी है। ये शिल्पी एवं कारीगर ऊर्णवाय (ऊन के बुनकर), तन्तुवाय (सूत के बुनकर), वेण (बाँस का काम करने वाले), चर्मकार आदि थे। लोहे के हथियार एवं कवच बनाने वालों को भी इसी प्रवर्ग में शामिल कर लिया गया है, पर इनकी सापेक्षिक प्रतिष्ठा बुनकर, चर्मकार एवं वेण से ऊँची रही होगी, जिनकी गणना पहले के काल से ही निम्नतम स्तर के शिल्पियों में की जाती रही थी।⁵

शिल्पियों में रथकार की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र का साक्ष्य महत्वपूर्ण लगता है। पहले देखा जा चुका है कि कुछ प्राचीन पालि ग्रन्थों में उसे हीन जाति का बताया गया है, और बौधायन धर्मसूत्र में उसे एक मिश्रित जाति के अन्तर्गत माना गया है, जो शूद्र से भी निम्न थी। अर्थशास्त्र में वैण⁶ को तो मिश्रित जाति का (अम्बष्ठ पिता एवं वैदेहिक माता की सन्तान) माना गया है, पर रथकार के लिए इस प्रकार की मिश्रित उत्पत्ति नहीं बतायी गयी है। उसके लिए यह कहा गया है कि वह कर्मणा वैश्य है।⁷ जन्मना रथकार क्या है इसका कोई उल्लेख नहीं किया गया है। पर मिश्रित जातियों एवं रथकार के उल्लेखों के पश्चात् यह निर्देश किया

1. वा० श० अग्रवाल, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 229.

2. अर्थशास्त्र, 2.4.9, 13, 15. द्रष्टव्य ऊपर भी।

3. उदय नारायण राय, प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृ० 254-55.

4. यू० एन० घोषाल, एज आफ दि नन्दस् ऐण्ड मौर्यस (में), सम्पादक के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री, पृ० 275-76.

5. द्रष्टव्य ऊपर।

6. अर्थशास्त्र, 3.7.32. वेण को कुछ प्राचीन पालि ग्रन्थों में भी हीन जाति का माना गया है; द्रष्टव्य ऊपर।

7. कर्मणा वैश्यो रथकारः। अर्थशास्त्र, 3.7.35.

गया है कि वे अपनी-अपनी योनि में ही विवाह करें तथा अपने-अपने पैतृक व्यवसाय का अनुसरण करें¹ : उन्हें शूद्र-धर्म के पालन करने का विकल्प भी दिया गया है (शूद्र धर्माणो वा)²। तथापि रथकार को कर्मणा वैश्य माने जाने से इतना तो स्पष्ट है कि मौर्य काल में इस शिल्पि-समुदाय की सामाजिक प्रतिष्ठा प्राइमैर्य काल की अपेक्षा कुछ बढ़ी। रथकारों के शिल्प की युद्धों, साम्राज्य-विस्तार एवं राजकीय गौरव के उत्कर्ष के इस काल में बड़ी उपयोगिता रही होगी। अर्थशास्त्र (2.33.1-11) में रथाध्यक्ष के सम्बन्ध में एक अलग प्रकरण मिलता है। इसमें कहा गया है कि रथकार नाना प्रकार के रथ— देवरथ, पुष्यरथ, सांग्रामिक (रथ), पारियाणिक (रथ), परपुराभियानिक (रथ), एवं वैनयिक रथ³— बनाते थे। ये क्रमशः देवता या देवालय, उत्सव के अवसरों (राज्याभिषेक, विवाह आदि), संग्राम, यात्रा, शत्रु के नगर के विरुद्ध अभियान एवं प्रशिक्षण के लिए होते थे⁴

शिल्प एवं जाति के आधार पर शिल्पि-समुदायों पर, ऊँच-नीच के अनुक्रम में, स्थान आरोपित करने की परम्परा बुद्ध के काल से ही चली आ रही थी।⁵ इसके साथ-साथ ही आर्थिक उपलब्धि के आधार पर शिल्पियों के विभेदीकरण की परम्परा विद्यमान थी, जो मौर्य काल में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगती है।⁶ आर्थिक उपलब्धि के आधार पर अर्थशास्त्र⁷ में शिल्पियों के दो प्रवर्ग बताये गये हैं— महाकारवः (महाकारुगण) एवं क्षुद्रकारवः (छोटे कारुगण)। अर्थशास्त्र (2.6.2) में कारुशिल्पिगण भी कराधान के दायरे के अन्तर्गत मिलते हैं।⁸ इसमें (5.2.20-21) राज्य की संकटपूर्ण आर्थिक स्थिति के समय महाकारुओं एवं क्षुद्रकारुओं से क्रमशः 20 पण एवं 10 पण कर लेने का प्रावधान किया गया है। महाकारवः के अन्तर्गत श्रेणियों के प्रधान आदि अपेक्षाकृत समृद्ध शिल्पी रहे होंगे। ये शिल्पी होने के साथ-साथ व्यापारी भी रहे होंगे। क्षुद्रकारवः अपने-अपने शिल्पों से सम्बन्धित वस्तुओं का उत्पादन एवं अपने उत्पादों का सीधे ग्राहकों को भी विक्रय करने वाले सामान्य आर्थिक स्तर के शिल्पी रहे होंगे। विशेष रूप से इसी प्रवर्ग के शिल्पी लोगों से कच्चा माल प्राप्त कर माँग पर भी सामान बनाते रहे होंगे।

1. अर्थशास्त्र, 3.7.36.

2. वही, 3.7.37. पर चण्डाल की वृत्ति न अपनाने के लिए कहा गया है।

3. वही, 2.33.5.

4. कौटिलीय अर्थशास्त्र, भाग 2 (कांगले का अंग्रेजी अनुवाद), 2.33.5 (पादटिप्पणी सहित)।

5 एवं 6. द्रष्टव्य ऊपर।

7 अर्थशास्त्र, 5.2.20-21; द्रष्टव्य ऊपर भी।

8 आर० पी० कांगले, दि कौटिलीय अर्थशास्त्र, भाग 3, पृ० 166. पर कांगले के अनुसार राज्य की अर्थ-व्यवस्था पर इसका प्रभाव नगण्य था। एरियन द्वारा दिये गये मेगस्थनीज के उद्धरण से ज्ञात होता है कि हस्तशिल्पियों को अपने द्वारा उत्पादित वस्तुओं में से कुछ वस्तुयें कर के रूप में देनी पड़ती थीं : रमेश चन्द्र मजूमदार (सम्पादक), दि क्लैसिकल अकाउंट्स आफ इंडिया, पृ० 225. इन्हें बिना मजदूरी लिये लोक-सेवा के कुछ कार्य भी करने पड़ते थे : वही ग्रन्थ एवं पृष्ठ।

आर्थिक आधार पर ही हस्त-शिल्पियों के एक और द्विविभाजन का संकेत अर्थशास्त्र में मिलता है। इस सन्दर्भ में एक कोटि के शिल्पियों को 'स्ववित्तकारवः' कहा गया है। स्पष्ट है कि ये लोग अपनी पूँजी से अपनी शिल्पशाला में शिल्प-कार्य करते रहे होंगे और अपने द्वारा उत्पादित वस्तुओं को सीधे खरीदारों को भी बेचते रहे होंगे।¹ स्ववित्तकारवः के अतिरिक्त दूसरी कोटि के वे शिल्पी रहे होंगे जो अपने शिल्प में अपनी पूँजी लगाने में असमर्थ होने के कारण वेतन पर काम करते रहे होंगे। वैतनिक शिल्पियों के वेतन आदि के सम्बन्ध में व्यवस्था अर्थशास्त्र (4.1) के कारुकरक्षणम् प्रकरण में मिलती है। पर, जैसा कि पहले देखा जा चुका है, इन उपर्युक्त दोनों कोटियों में आत्यन्तिक विभेद न रहा होगा। वैतनिक शिल्पियों के सुस्पष्ट वर्ग के अस्तित्व का प्रमाण नहीं मिलता है। फिर भी मौर्य काल में वेतन पर काम करने वाले शिल्पियों की संख्या में वृद्धि हुयी होगी, क्योंकि इस काल में, जैसा कि अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है, राज्य भी वस्तुओं के निर्माण एवं व्यापार सम्बन्धी क्रिया-कलाप में सक्रिय भाग लेने लगा था।²

अर्थशास्त्र में कारु-शिल्पियों की श्रेणियों के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी नहीं मिलती है। इसमें एक स्थल पर मिलता है कि यदि कारु-शिल्पी सामूहिक निर्णय कर अपने कार्य (शिल्प-उत्पाद) की गुणवत्ता घटावें या अपने लाभ में वृद्धि करें या क्रय-विक्रय में बाधा उत्पन्न करें तो संस्थाध्यक्ष (बाजार का निरीक्षक) द्वारा उनके ऊपर एक हजार पण का जुर्माना लगाया जाय।³ इस प्रकार के कठोर नियन्त्रण के फलस्वरूप शिल्पियों एवं कारीगरों की श्रेणियों के सामूहिक क्रिया-कलाप काफी संकुचित हो गये होंगे।

शिल्प-कर्मकरों में से कुछ की मजदूरी के भी अर्थशास्त्र में उल्लेख मिलते हैं। कपड़ा बुनने वाले बुनकर की सामान्य कपड़ा; क्षौम एवं कौशेय; और पत्रोर्णा, कम्बल एवं दुकूल बुनने की मजदूरी क्रमशः (कपड़ा बुनने के हेतु दिये गये) तागे के मूल्य के बराबर; उसके मूल्य का डेढ़ गुना; और उसके मूल्य का दुगुना बताई गयी है।⁴ धोबी की बहुमूल्य, मध्यम, रंगीन एवं निम्नतम कोटियों के कपड़ों को धोने की अलग-अलग मजदूरी एक

1. तुलनीय आर० पी० कांगले, कौटिलीय अर्थशास्त्र, भाग 2, 4.1.2 पादटिप्पणी। तन्तुवाय आदि कुछ शिल्पी मध्यस्थ व्यापारियों के हाथ भी अपने सामान बेचते रहे होंगे। व्यापारी सामानों को बाहर ले जाकर भी बेचते थे।

2. द्रष्टव्य ऊपर, अध्याय 1.

3. कौटिलीय अर्थशास्त्र, 4.2.18.

4. वही, 4.1.10.

पण (16 माषक) से लेकर एक माषक तक थी।¹ सोने का काम करने के लिए एक सुवर्ण भार (के सोने) पर 1/8 पण मजदूरी तथा चाँदी का काम करने के लिए एक धरण भार (की चाँदी) पर एक माषक मजदूरी का उल्लेख है।² विशेष कुशलता से कार्य करने पर यह मजदूरी दुगुनी भी हो सकती थी।³ ताँबा, लोहा, काँसा, पीतल आदि धातुओं पर काम करने के लिए 100 पल भार (की धातु) पर 5 पण मजदूरी विहित की गयी है।⁴ अर्थशास्त्र में राज्य के प्रमुख पदाधिकारियों की वेतन-योजना के सन्दर्भ में सबसे कम वेतन (2000 पण प्रति माह) मुख्य तक्षा का मिलता है।⁵ अन्य तक्षा (बढ़ई) लोगों का वेतन केवल 120 पण प्रति माह बताया गया है।⁶ फिर भी मुख्य तक्षा का पद शिल्पियों के लिए काफी प्रतिष्ठा का पद रहा होगा।

लगभग 200 ई०पू० से लगभग 300 ई० के काल में, जैसा कि पहले देखा जा चुका है, उद्योग-धन्धों, आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार, सिक्कों के प्रचलन एवं नगर-जीवन में महत्वपूर्ण प्रगति के क्रम में नगरीय शिल्पियों की संख्या एवं प्रकारों का विशेष विस्तार हुआ। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद जो राज्य बने उनमें शिल्पियों पर कठोर नियन्त्रण न रह जाने से उनके सामूहिक संगठनों (श्रेणियों) को और अधिक विकास का अवसर मिला तथा उनके क्रिया-कलाप एवं आर्थिक स्थिति में उन्नयन हुआ। मिलिन्दपञ्चो⁷ में नगर में रहने वाले कुल 75 पेशों में संलग्न समुदायों की तालिका में से 34 समुदाय शिल्पियों एवं कारीगरों के हैं, जिनमें 8 प्रकार के धातुकर्मों भी शामिल हैं। इससे धातु-शिल्पों के विस्तार का पता चलता है। महावस्तु⁸ में राजगृह एवं कपिलवस्तु में रहने वाले लगभग 36 प्रकार के शिल्पियों एवं कारीगरों के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं, जिनमें से अधिकांश वही हैं जो मिलिन्दपञ्चो में मिलते हैं। इन ग्रन्थों में उल्लिखित बहुत से शिल्पियों के अभिधान अंगविज्जा⁹ में भी मिलते हैं। इस काल में शिल्पियों के प्रकारों में वृद्धि का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है

1. वही, 4.1.22.

2. वही, 4.1.32.

3. वही, 4.1.32.

4. वही, 4.1.35.

5. वही, 5.3.12.

6. वही, 5.3.16. उच्चतम पदाधिकारियों—मंत्री, पुरोहित, सेनापति, आदि—का वेतन 48000 पण (प्रति माह) एवं उनसे नीचे की कई श्रेणियों के पदाधिकारियों के वेतन अवरोही क्रम 24000, 12000 और 8000 पण बताये गये हैं (वही, 5.3.)।

7,8 एवं 9 द्रष्टव्य ऊपर, अध्याय 1.

कि प्राचीन पालि ग्रन्थों— दीघ निकाय¹, मज्झिम निकाय² आदि— में हमें उत्पादक शिल्पों और सेवा-शिल्पों से सम्बन्धित शिल्पियों के प्रकारों की कुल संख्या सोलह ही मिलती है।³

शिल्पियों के अपने व्यावसायिक क्रिया-कलाप में उल्लेखनीय विस्तार का एक महत्वपूर्ण साक्ष्य साझेदारी के नियमों के विकास में भी मिलता है। मौर्य काल की स्थिति पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ अर्थशास्त्र (3 14.18-38) में कृषकों, व्यापारियों एवं यज्ञ करने वाले पुरोहितों की साझेदारी के सम्बन्ध में ही नियम मिलते हैं। पर मनुस्मृति⁴ (200 ई०पू०-200 ई०) में पुरोहितों के सम्बन्ध में जिन नियमों को दिया गया है उन्हें सभी पर लागू करने की बात कही है। इन सभी लोगों में शिल्पी भी शामिल रहे होंगे, लेकिन उनका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। याज्ञवल्क्य⁵ (100-300 ई०) ने साझेदारी के नियमों को देते हुए उन्हें केवल व्यापारियों, पुरोहितों और कर्षकों के ऊपर ही नहीं अपितु शिल्पियों एवं कारीगरों (कर्मिणाम्)⁶ के ऊपर भी लागू करने का स्पष्ट उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि मौर्योत्तर काल में शिल्पियों एवं कारीगरों द्वारा सम्भूयता के आधार पर भी काम करने की प्रथा का काफी विस्तार हुआ। यह भी उनकी आर्थिक स्थिति के उत्कर्ष में सहायक हुआ होगा।

शिल्पी एवं कारीगर सामान्यतः शूद्र वर्ण के अन्तर्गत माने जाते थे, यद्यपि इस वर्ण के अन्दर भी इनमें शिल्प एवं जाति के आधार पर ऊँच-नीच का विभेद किया जाता था।⁷ पर आपद्धर्म के अन्तर्गत वैश्य भी शूद्र-वृत्ति-- जिसमें शिल्प-वृत्ति शामिल थी-- को अस्थायी रूप से अपना सकते थे (मनुस्मृति, 10.98)। मौर्योत्तर काल में हम शूद्रों के कर्तव्य के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से दो प्रकार की विरोधी विचारधारायें पाते हैं— एक तो धर्मशास्त्रीय विचारधारा और दूसरी वह विचारधारा जो बौद्ध परम्परा⁸ में विशेष रूप से परिलक्षित होती है। धर्मशास्त्रीय विचारधारा मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति में मिलती है।

1. एवं 2. प्रोफेसर गाविन्द चन्द्र पांडे के अनुसार, निकायों का विकास पांचवी से तीसरी शताब्दी ईसवी पूर्व के काल में हुआ। वही, स्टडीस् इन दि ऑरिजिन्स आफ बुद्धिज्म, पृ० 16.

3. उमा चक्रवर्ती, दि सोशल डाइमेंशन्स आफ अर्ली बुद्धिज्म, पृ० 189.

4. मनुस्मृति, 8.206-211.

5. याज्ञवल्क्य स्मृति, 2.259, 265.

6. वही, 2.265.

7. द्रष्टव्य ऊपर।

8. वर्ण-व्यवस्था के प्रति प्रारम्भिक जैन धर्म का भी दृष्टिकोण उदार था और सभी वर्णों के लोगों को भिक्षु-संघ में दीक्षित किया जाता था; रामशरण शर्मा, शू० ए० ई०, पृ० 147.

धर्मसूत्रों की परम्परा का अनुसरण करते हुये मनु ने शूद्र का कर्म केवल (एकमेव) ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य वर्णों की शुश्रूषा करना¹ विहित किया है। द्विज-शुश्रूषा करने में असमर्थ शूद्र को ही उन कारुककर्मों या शिल्प-कर्मों से जीविकार्जन का निर्देश किया गया है, जिनके करने से द्विजों की सेवा हो जाय।² याज्ञवल्क्य ने भी द्विज-शुश्रूषा को शूद्र का प्रधान कर्म मानते हुए यह विहित किया है कि उससे जीविका निर्वाह न होने पर शूद्र द्विजाति-हित में विविध प्रकार के शिल्पों द्वारा जीवन-निर्वाह करे अथवा वणिग्वृत्ति का आश्रय ले।³ इस प्रकार धर्मशास्त्र परम्परा में द्विज-शुश्रूषा को ही शूद्रों का कर्तव्य माना गया है और उससे जीवन-निर्वाह न होने पर उन्हें शिल्प-वृत्ति या कारुकवृत्ति की अनुज्ञा एक प्रकार से परोक्ष द्विजाति-शुश्रूषा एवं द्विजाति-हित-संवर्धन के हेतु ही दी गयी है। शिल्प-वृत्ति या कारुक-वृत्ति को केवल शूद्रों के लिए नियमित बताया गया है।⁴

इस काल की बौद्ध परम्परा में हमें धर्मशास्त्र की उपर्युक्त विचारधारा का स्पष्ट विरोध मिलता है। इस सन्दर्भ में अश्वघोष (50 ई०पू० से 50 ई०) की वज्रसूची⁵ का साक्ष्य महत्वपूर्ण है। इसमें तर्क द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि शूद्र चतुर्वर्ण-व्यवस्था में निम्नतम नहीं माने जा सकते। इसके अनुसार 'ब्रह्मक्षत्रविट्शूद्राः' 'उमामहेश्वरौ', 'दन्तौष्ठम्' आदि की भाँति केवल एक समस्त पद है, जो अवरोही क्रम में अनुक्रम का बोधक नहीं माना जा सकता।⁶ इसी आधार पर धर्मशास्त्र के इस विधान का कि शूद्र का विशिष्ट धर्म केवल ब्राह्मण-शुश्रूषा है खण्डन किया गया है।⁷ वज्रसूची में शूद्रों के प्रति यह दृष्टिकोण बौद्धों के परम्परागत दृष्टिकोण का ही व्यवस्थित रूप है। बुद्ध ने भी इस धर्मशास्त्रीय विधान का खण्डन किया था कि निम्नवर्ण के

-
1. मनुस्मृति, 1.91. विप्रसेवा को उसका विशिष्ट कर्म माना गया है-- वही, 10.123.
 2. मनुस्मृति, 10.99, 100. पर अर्थशास्त्र (1.3.8) में शिल्प-वृत्ति को शूद्र की एक नियमित वृत्ति बताया गया है।
 3. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.120.
 4. यही विचार अर्थशास्त्र (1.3.8) में भी मिलता है।
 5. वज्रसूची (द्वितीय संस्करण), सम्पादक सुजित कुमार मुखोपाध्याय, विश्व भारती, शान्ति निकेतन, 1960.
 6. वही, पृ० 5-6 (v).
 7. भवदीय प्रतिज्ञा 'ब्राह्मणशुश्रूषैव तेषां धर्मो' (सा) न भवति। वज्रसूची, पृ० 6 (v).

लोग उच्च वर्ण के लोगों की शुश्रूषा करें।¹ उन्होंने कहा था कि कोई भी व्यक्ति-- चाहे वह शूद्र ही क्यों न हो-- यदि धन, अनाज, सोने और चाँदी से सम्पन्न है, तो वह जो भी उपयुक्त हों उन्हें सेवा-योजित कर सकता है।²

सम्भवतः इसी बौद्ध विचारधारा के प्रतिरोध में मनु ने यह विहित किया कि धनोपार्जन में समर्थ होने पर भी शूद्र को धनसंचय नहीं करना चाहिए, क्योंकि धन प्राप्त कर वह ब्राह्मणों को ही बाधित करता है।³ यह शूद्रों के धन-संग्रह पर प्रतिबन्ध था। पर शूद्र वर्ण के अन्तर्गत कई वृत्तियों से सम्बन्धित प्रवर्ग थे। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि शूद्रों में से वे कौन लोग थे जो इस प्रतिबन्ध से विशेष रूप से प्रभावित हो सकते थे। इस सम्बन्ध में मनु के प्राचीनतम ज्ञात भाष्यकार भारुचि (लगभग 550 से 650 ई०) की विचारणीय श्लोक पर टीका से कुछ महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। भारुचि⁴ ने जिन वृत्तियों से शूद्र विशेष रूप से लाभान्वित होकर धन-संचय कर सकते थे उनमें से केवल शिल्प-वृत्ति का ही स्पष्ट उल्लेख किया है। इससे यह लगता है कि मनु का शूद्रों के धन-संचय पर प्रतिबन्ध विशेष रूप से समृद्ध शिल्पियों एवं कारीगरों को ही दृष्टि में रखकर था। यहाँ यह कहा जा सकता है कि भारुचि की टीका उसके अपने काल की स्थिति द्योतित करती है। पर मनुस्मृति के काल-मौर्योत्तर काल- में भी समृद्ध शिल्पियों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। ऐसे बहुत से शिल्पियों द्वारा दिये गये धार्मिक दानों के उल्लेख हम इस काल के ब्राह्मी अभिलेखों में पाते हैं।⁵ स्वयं मनुस्मृति⁶ में उल्लिखित एक कथा के अनुसार भारद्वाज मुनि ने वृधु नामक एक समृद्ध बड़ई (तक्षा) से 100 गायों का प्रतिग्रह घोर आपत्ति के काल में ग्रहण किया था। मनु के काल की सामाजार्थिक स्थिति के सन्दर्भ में इस कथा की प्रासंगिकता को नकारा नहीं जा सकता।

इस काल में अनेक शिल्पियों के बौद्ध धर्म के प्रति झुकाव के स्पष्ट अभिलेखीय प्रमाण⁷ भी मिलते हैं। इस झुकाव की पृष्ठभूमि में उनके ऊपर पूर्वोक्त धर्मशास्त्रीय नियन्त्रण, प्रतिबन्ध एवं हेयत्वारोपण⁸ के प्रति उनका

1 एवं 2. मज्झिम निकाय, 2, पृ० 441; उद्धृत द्वारा उमा चक्रवर्ती, दि सोशल डाइमेंशन्स आफ अर्ली बुद्धिज्म, पृ० 99-100.

3. शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः।
शूदो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते॥ - मनुस्मृति, 10.129.

4. महाफलैः शिल्पादिभिः वृत्त्यन्तरैः पर्याप्तधनः शूद्रो.....।
भारुचिस् कॉमेंटरी आन दि मनुस्मृति, जिल्द 1, सम्पादक जे० डी० एम० डेरेट, 10.129 (पृ० 230)।

5. द्रष्टव्य ऊपर, अध्याय 1.

6. मनुस्मृति, 10.107. यह कथा महाभारत (13.94-95) में भी मिलती है, उद्धृत द्वारा वेंडी डोनीगर एवं ब्रिअन के० स्मिथ, दि लॉज आफ मनु, 10.107 पादटिप्पणी।

7. द्रष्टव्य ऊपर, अध्याय 1.

8. शौचाशौच के आधार पर अनेक प्रकार के लोगों के अतिरिक्त बड़ई, दर्जी, कर्मार (लोहार), सुवर्णकार, वेण, धोबी, रंगरेज, चर्मकार, कारुक, तन्तुवाय आदि ब्राह्मण के लिए अभोज्यात्र की कोटि में रखे गये हैं। मनुस्मृति, 4.210, 214-216, 218-219. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.161, 163.

असन्तोष तथा बौद्ध धर्म का उनके प्रति उदार दृष्टिकोण महत्वपूर्ण घटक रहे होंगे। शिल्पी धर्मशास्त्र के प्रतिबन्धात्मक नियमों का उल्लंघन करने लगे होंगे। इस प्रकार एक व्याघातपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गयी होगी, जिसकी कुछ झलक हमें उस काल के कलि-वर्णन में मिलती है।

युगपुराण¹ (प्रथम शताब्दी ई०पू०)², जो गार्गी संहिता का एक भाग है, के कलियुग के वर्णन³ से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि बौद्ध एवं जैन धर्मों के प्रभाव एवं उत्तरी भारत में विदेशियों— यवनों एवं शकों— के आधिपत्य के कारण धर्मशास्त्र-विहित जन्म पर आधारित श्रेणीबद्ध वर्ण-जाति-व्यवस्था शिथिल होने लगी और निम्नतम वर्ण से सम्बन्धित शूद्रों का कुछ उन्नयन होने लगा⁴ (कहने की आवश्यकता नहीं कि बहुसंख्यक शिल्पी एवं कारीगर भी शूद्र वर्ण के अन्तर्गत थे।) बौद्ध एवं जैन धर्मों का दृष्टिकोण इस व्यवस्था के सन्दर्भ में उदार था और विदेशी शासकों की इसके संरक्षण की कोई प्रतिबद्धता नहीं थी। विष्णु पुराण के कलियुग-वर्णन से ज्ञात होता है कि सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार के रूप में अर्थ का महत्व बढ़ने लगा था⁵, जो स्पष्टतः आर्थिक विकास के कारण था। इस पुराण तथा अन्य प्रारम्भिक पुराणों के कलियुग-वर्णन प्रथम-द्वितीय शताब्दी तथा उसके आस-पास के काल पर प्रकाश डालते हैं।⁶ इनमें उस समय की सामाजिक व्यवस्था में एक व्याघातपूर्ण स्थिति परिलक्षित होती है।

कारुकों एवं शिल्पियों पर कराधान के सन्दर्भ में मनुस्मृति⁷ में धर्मसूत्रों⁸ की प्राचीन परम्परा को ग्रहण करते हुए यह विहित किया गया है कि राजा उनसे कर न ले और केवल महीने में एक दिन उनसे निर्मूल्य काम करवाये। आपत्तिकाल में भी उनसे कर न लेने का विधान किया गया है।⁹ पर, जैसा कि मेधातिथि के मनुस्मृति

-
1. युग पुराण, सम्पादक डी० आर० मनकड, चारुतर प्रकाशन, वल्लभ विद्यानगर, 1951.
 2. यू० एन० घोषाल, ए कॉम्प्रिहेंसिव हिस्ट्री आफ इंडिया, जिल्द 2 (सम्पादक के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री), पृ० 472.
 3. वायु, ब्रह्माण्ड एवं मत्स्य पुराणों के कलि-वर्णनों में भी यही उल्लेख मिलते हैं। एस० एन० राय, पौराणिक धर्म एवं समाज, पृ० 155, 264; बी० एन० एस० यादव, कुषाण स्टडीज़ (सम्पादक जी० आर० शर्मा), पृ० 75, 91.
 4. युग पुराण, पंक्ति 94 और आगे।
 5. ततश्चार्थ एवाभिजनहेतुः। विष्णु पुराण, 4.24.21 और आगे।
 6. आर० सी० हाज़रा, पुराणिक रेकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स ऐण्ड कस्टम्स, भाग 2, पृ० 174 और आगे।
 7. मनुस्मृति, 7.138.
 8. गौतम धर्मसूत्र, 10.31; वसिष्ठ धर्मसूत्र, 19.28.
 9. मनुस्मृति, 10.120.

पर भाष्य से ज्ञात होता है, यह व्यवस्था उन कारुकों एवं शिल्पियों के लिए थी जो शिल्पमात्रोपजीविनः¹ (केवल शिल्प-कर्म से शिल्प-कर्मकर के रूप में जीविकार्जन करने वाले) थे। जो शिल्पी अपने द्वारा उत्पादित वस्तुओं का ग्राहकों के हाथ सीधे विक्रय करते रहे होंगे उनसे वस्तु-विक्रय से प्राप्त लाभ के आधार पर कर लिया जाता रहा होगा, क्योंकि वे इस स्थिति में शिल्पी होने के साथ-साथ प्रायः सामान्य स्तर के व्यापारी भी होते थे। (वणिजों से कर-ग्रहण का विधान मनुस्मृति (7.127) में मिलता है।) मनुस्मृति² में इसका भी स्पष्ट उल्लेख है कि 'व्यवहार' (व्यापार)³ में लगे निम्न स्तर के लोगों से राजा को कुछ वार्षिक कर ग्रहण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त पशुओं के चमड़े तथा बाँस की बनी वस्तुओं, मिट्टी के बरतनों एवं पत्थर की बनी वस्तुओं का छठा भाग कर के रूप में ग्रहण करने का भी विधान मिलता है।⁴ मनु (3.142) ने ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों से क्रमशः 2%, 3%, 4% एवं 5% प्रति मास सूद लेने का विधान किया था।⁵ यह व्यवस्था शूद्रों के आर्थिक हित के प्रतिकूल थी। पर नासिक अभिलेख⁶ से ज्ञात होता है कि जिस धन का निवेश बुनकरों की श्रेणियों में किया गया था उस पर उन्हें 1 से 3/4 प्रतिशत प्रति मास की दर से ही सूद देना पड़ता था। इस प्रकार यहाँ शूद्र होने के कारण बुनकरों से उच्चतम दर पर सूद लेने के मनु के विधान का अनुपालन नहीं किया गया है। मनु ने आर्य को ही धन का निक्षेप ग्रहण करने के योग्य माना है।⁷ यहाँ शूद्र इसके योग्य नहीं समझा गया है। पर, जैसा कि पहले ही देखा जा चुका है, द्वितीय शताब्दी में सातवाहनों के क्षेत्र में बुनकरों, तैलिकों एवं कुम्भकारों की श्रेणियों में धन का निवेश किया जाता था।⁸ ये सब शूद्र वर्ण के अन्तर्गत ही थे।⁹

- 1 मनुस्मृति, 7.138 पर मेधातिथि। मेधातिथि ने कारुकान् को भी शिल्पी माना है, पर कुल्लूक भट्ट ने कारुकों को शिल्पियों से किञ्चित् उत्कृष्ट बताया है- शिल्पिभ्य ईषदुत्कृष्टान् (मनु०, 7.138 पर कुल्लूक)। केवल शिल्प-कर्म से वैतनिक कर्मकर के रूप में जीविकार्जन करने वाले शिल्पियों या कारुकों का उल्लेख पतंजलि के महाभाष्य (अष्टाध्यायी, 1.4.54 पर) में भी मिलता है। इनका दासों और सामान्य कर्मकरों से अन्तर बताया गया है : कुशल कर्मकर होने के कारण ऐसे शिल्पियों का स्तर इन दोनों से उच्च था।
 2. मनुस्मृति, 7.137.
 - 3 इस सन्दर्भ में 'व्यवहार' का अर्थ व्यापार है : दि लॉज आफ मनु, अनुवादक विंडी डोनीगर एवं ब्रिअन के० स्मिथ, 7.137.
 - 4 दि लाज आफ मनु, 7.132.
 5. वसिष्ठ धर्मसूत्र (2.48) में भी यही नियम मिलता है। पर यह इस धर्मसूत्र में सम्भवतः बाद में जोड़ा गया; रामशरण शर्मा, शू० ए० इ०, पृ० 202 पादटिप्पणी 1.
 - 6 द्रष्टव्य ऊपर।
 7. मनुस्मृति, 8.179.
 8. द्रष्टव्य ऊपर।
 9. शूद्र शिल्पियों की श्रेणियों में धन निवेश करने की प्रथा के पीछे बौद्ध धर्म के सामाजिक अनुक्रम के प्रति उदार दृष्टिकोण का प्रभाव लगता है। सातवाहनों के इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म का काफी प्रचार था।
- हिमांशु प्रभा रे, दि एज आफ दि सातवाहनस्, जिल्द 1- सम्पादक अजय मित्र शास्त्री, पृ० 202.

पहले देखा जा चुका है कि मौर्योत्तर काल में नगरीय शिल्पियों के श्रेणि-संगठन में विकास हुआ तथा सामान्यतः श्रेणियों के प्रभाव, अधिकार, क्रिया-कलाप एवं समृद्धि में वृद्धि हुयी। पर श्रेणि के सदस्यों में समानस्तरीयता नहीं थी। याज्ञवल्क्य स्मृति (2.188) से ज्ञात होता है कि श्रेणि में उसके सदस्यों एवं प्रमुख के अतिरिक्त समूहहित-वादनशील कार्यचिन्तक (कार्यविचारक) भी होने लगे, जिनकी बात सदस्यों को मानने का आग्रह मिलता है। ये कार्यचिन्तक श्रेणि के सदस्यों में से ही होते थे, और इनकी संख्या बहुत ही कम रही होगी। तथापि ऐसी स्थिति में श्रेणि में श्रेणि के प्रमुख एवं कार्यचिन्तकों का एक अधिकार-सम्पन्न उच्च स्तर बन गया होगा। उनके नीचे वे सामान्य शिल्पाचार्य¹ रहे होंगे जो अपने शिल्प-कार्य के साथ-साथ अन्तेवासियों को प्रशिक्षण देते थे। इनके भी नीचे सामान्य शिल्पी रहे होंगे जो केवल अपना शिल्पकार्य करते थे। सबसे नीचे वे शिल्प-कर्मकर रहे होंगे जो लोगों से कच्चा माल² प्राप्त कर उनकी माँग पर, वेतन लेकर, सामान बनाते थे या वेतन³ पर अपने शिल्प से सम्बन्धित कार्य करते थे। पर अपनी पूँजी से अपना काम करने वाले कुछ शिल्पी भी कभी-कभी लोगों से कच्चा माल लेकर, वेतन पर, उनके लिए सामान तैयार करते रहे होंगे। शिल्प एवं व्यापार में पूर्ण अलगाव नहीं था और बहुत से शिल्पी अपने द्वारा निर्मित सामान पूर्ण या आंशिक रूप से ग्राहकों को सीधे बेचते रहे होंगे। पर मध्यस्थ व्यापारी काफी हद तक शिल्पियों से सामान क्रय कर उसका विक्रय करते रहे होंगे। मिश्रित ग्रामों में रहने वाले शिल्पी एवं कारीगर श्रेणियों में संगठित नहीं रहते थे।⁴ इनके लिये पतञ्जलि के महाभाष्य⁵ में 'पञ्चकारुकी' (कुम्भकार, लोहार, बदर्ई, धोबी एवं नाई) शब्द मिलता है। इन ग्राम-शिल्पियों की भी स्थिति शिल्प-कर्मकरों की भाँति रही होगी।

शिल्पियों एवं मध्यस्थ व्यापारियों के बीच सम्बन्ध सदैव सामञ्जस्यपूर्ण नहीं रहते थे। इसके उत्पीड़नात्मक पक्ष की जानकारी याज्ञवल्क्य स्मृति से मिलती है। इसमें कहा गया है कि कभी-कभी अपने लाभ के लिए व्यापारी आपस में मिलकर वस्तुओं के दाम अनुचित रूप से घटा-बढ़ा देते थे, जिससे कारु-शिल्पी

1. याज्ञवल्क्य स्मृति, 2.184. कार्यचिन्तक एवं प्रमुख दक्षता के आधार पर शिल्पाचार्य भी होते रहे होंगे।

2. मनुस्मृति (8.397) में तन्तुवाय को सूत देकर उससे कपड़ा बुनवाने का उल्लेख है। अर्थशास्त्र (4.1.8) से ज्ञात होता है कि यह पहले से चली आ रही परम्परा थी। अर्थशास्त्र में यहाँ तन्तुवाय वैतनिक शिल्प-कर्मकर के रूप में मिलता है।

3. अष्टाध्यायी, 1.4.54 पर पतञ्जलि का महाभाष्य।

4. तुलनीय, आनन्द के० कुमारस्वामी, दि इंडियन क्राफ्ट्समैन, पृ० 43.

5. अष्टाध्यायी, 1.1.48 पर।

पीड़ित और बाधित होते थे।¹ इसके लिये व्यापारियों को दण्डित करने का विधान किया गया है। इस दण्ड-विधान से ऐसा लगता है कि ऐसी घटनायें नगण्य नहीं थीं, और इनसे कारु-शिल्पियों के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता था।

गुप्त काल में शिल्पियों के प्रति दृष्टिकोण में उदारता एवं उनकी सामाजिक स्थिति में कुछ उन्नयन की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। अधिकांश शिल्पी पहले से ही शूद्र वर्ण के अन्तर्गत माने जाते थे। मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति, जो गुप्त काल के पहले की स्थिति पर प्रकाश डालती हैं, में शूद्रों को द्विज-शुश्रूषा का कार्य न उपलब्ध होने पर ही द्विजाति-हित में शिल्पों का आश्रय लेने का विधान मिलता है। पर गुप्त काल में, जैसा कि बृहस्पति स्मृति² से ज्ञात होता है, शिल्प-वृत्ति को शूद्रों के नियमित धर्म के अन्तर्गत मान लिया गया। वास्तविकता के स्तर पर पहले भी विभिन्न शिल्पों से सम्बन्धित, नगरों एवं अपने ग्रामों में रहने वाले, शिल्पी द्विज-शुश्रूषा की अपेक्षा न रखते हुए स्वतन्त्र रूप से अपना शिल्प-कार्य करते थे। पर धर्मशास्त्र की परम्परा में बृहस्पति द्वारा इस स्थिति को मान्यता देने से उन्हें अपने क्रिया-कलाप में अपेक्षित स्वतन्त्रता को एक औचित्य मिला होगा।

इस सन्दर्भ में भारुचि (लगभग 550-650 ई०) की मनुस्मृति के उस श्लोक पर टीका भी विचारणीय है जिसमें कहा गया है कि समर्थ शूद्र को भी धन-संचय नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से वह ब्राह्मण को बाधित करता है। यह स्पष्ट है कि भारुचि की टीका गुप्त काल की प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालती है। भारुचि ने मनु के प्रश्नगत श्लोक की टीका में इस बात का उल्लेख किया है कि शूद्र प्रभूत धन के स्रोत (महाफला) शिल्प आदि का आश्रय लेकर पर्याप्त धन संचित कर लेते हैं। पर उसने इस मत को एक तर्कपूर्ण ढंग से निराकृत किया है कि वे इस प्रकार अधिक धनवान होकर ब्राह्मणों को प्रतिग्रह³ प्रदान कर सकते हैं और उन्हें स्वधर्म से विचलित कर सकते हैं। भारुचि के अनुसार मनु द्वारा शूद्रों (शिल्पियों आदि) के लिए धन-संचय के प्रतिषेध का

1. सम्भूय कुर्वतामर्घ्यं संबाधं कारुशिल्पिनाम्।

अर्धस्य ह्रासं वृद्धिं वा जानतो दम उत्तमः॥ याज्ञवल्क्य स्मृति, 2.249.

2. शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा सर्वशिल्पानि चाप्यथ।

विक्रयः सर्वपण्यानां शूद्रधर्म उदाहृतः॥ बृहस्पति स्मृति, पृ० 304, श्लो० 530.

शूद्रों के कर्तव्य की लगभग यही अवधारणा अर्थशास्त्र (1.3.8) में भी मिलती है। ऐसा लगता है कि वास्तविक परिस्थितियों के दबाव से धर्मशास्त्र परम्परा में भी इसे ग्रहण कर लिया गया।

3. धर्मशास्त्र के अनुसार, ब्राह्मण प्रथम तीन वर्णों के किसी सुयोग्य व्यक्ति से ही प्रतिग्रह ग्रहण कर सकता था। काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जिल्द 2, भाग 1, पृ० 110.

उद्देश्य इस बात की मान्यता देना है कि वे केवल सामान्य नित्य दान ही नहीं कर सकते अपितु अपने अभ्युदय के हेतु विशेष दान का भी अनुष्ठान कर सकते हैं। टीकाकार ने इस प्रतिषेध की व्याख्या के सन्दर्भ में विकल्पतः यह भी कहा है कि यह उपदेश केवल उन्हीं शूद्रों से सम्बन्धित है जो ब्राह्मण के आश्रित हों। यहाँ यह स्पष्ट है कि मनु के उक्त श्लोक की यह व्याख्या उसके मूल अभिप्राय से काफी हटकर है। इस व्याख्या में भारुचि ने एक प्रकार से शूद्र शिल्पियों आदि को स्वतन्त्र रूप से धनार्जन कर समृद्ध होने का धर्मशास्त्रीय औचित्य प्रदान किया है। यह भी गुप्त काल में शिल्पियों के एक समृद्ध प्रवर्ग के अस्तित्व एवं उनके हितानुकूल एक प्रवृत्ति का द्योतक है। धन-संचित कर सम्पन्न हो जाने वाले शूद्र शिल्पी, विशेषकर नगरों में, हेय दृष्टि से नहीं देखे जाते थे। वात्स्यायन रचित कामसूत्र¹ नामक ग्रन्थ एवं उस पर जयमंगला टीका से ज्ञात होता है कि शूद्र शिल्पवृत्ति, नाट्यकर्म आदि के द्वारा धन-सम्पन्न होकर नगर के सम्मानित प्रतिष्ठित व्यक्ति (नागरक) बन सकते थे। शिल्पियों की कुछ श्रेणियाँ भी प्रभूत-धन संचय कर लेती थीं। मन्दसौर प्रस्तर-अभिलेख से ज्ञात होता है कि रेशम के बुनकरों (पट्टवायों) की एक श्रेणि ने दशपुर में अपनी संचित धनराशि से 436 ई० में सूर्य का एक मन्दिर बनवाया था और इसके कारण उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी थी।²

गुप्त काल के स्रोतों से हमें नगरवासी शिल्पियों की श्रेणियों का विकसित संस्थागत रूप दृष्टिगोचर होता है।³ इन श्रेणियों के काफी सदस्य शिल्पोत्पादन के साथ-साथ अपने द्वारा उत्पादित वस्तुओं का सीधे विक्रय भी करते रहे होंगे। बृहस्पति स्मृति में राजा को सलाह दी गयी है कि वह श्रेणियों के अध्यक्षों द्वारा श्रेणि-सदस्यों के प्रति जो कुछ श्रेणि के नियमों (स्वधर्म) के अनुसार किया जाय उसको मान्यता प्रदान करे।⁴ इससे यह लगता है कि इस काल में श्रेणियों को अपने आन्तरिक क्रिया-कलाप में काफी स्वतन्त्रता थी और सामान्यतः राजा उनके निर्णयों को मानने के लिए बाध्य था।⁵ इस प्रकार शिल्प-श्रेणियाँ राज्य के नियन्त्रण से काफी हद तक मुक्त हो गयी होंगी। श्रेणियों के प्रभाव एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि सम्बन्धी साक्ष्यों पर पहले विचार किया जा चुका है।⁶

1 कामसूत्र, 1.4.1. वात्स्यायन सम्भवतः इसवी सन की चौथी या पाँचवी शताब्दी में हुये थे; श्रेण्य युग, प्रधान सम्पादक आर० सी० मजूमदार, पृ० 366.

2 द्रष्टव्य, ऊपर अध्याय 2.

3 द्रष्टव्य, ऊपर अध्याय 2.

4 तैः कृतं च स्वधर्मेण निग्रहानुग्रहं नृणाम्।
तद्राज्ञोऽप्यनुमन्तव्यं निसृष्टार्था हि ते स्मृताः॥ बृहस्पति स्मृति, 17.18 (पृ० 153)।

5. रमेशचन्द्र मजूमदार, प्राचीन भारत में संघटित जीवन, पृ० 52. पर यदि श्रेणि के अध्यक्ष द्वेषवश संगठन के किसी सदस्य को हानि पहुँचावे तो ऐसी स्थिति में राजा को हस्तक्षेप करने के लिये कहा गया है। बृहस्पति स्मृति, 17.19.

6. द्रष्टव्य ऊपर, अध्याय 2.

डी० डी० कोसम्बी¹ ने अमरकोश में मिलने वाले एक श्लोक² के साक्ष्य के आधार पर इस काल में शिल्पियों की श्रेणियों के विशेष महत्त्व को रेखांकित किया है। उनके अनुसार, वे इतनी महत्त्वपूर्ण थीं कि उन्हें इस शब्द-कोश में राज्य के अंगों के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। पर यह श्लोक जिसमें 'श्रेणयः' शब्द आता है अमरकोश में क्षत्रिय वर्ग के अन्तर्गत राजनीतिक सन्दर्भ में मिलता है। वास्तव में, जैसा कि क्षीरस्वामी की अमरकोश के इस श्लोक पर टीका से ज्ञात होता है, इस सन्दर्भ में 'श्रेणि' शब्द कारु-शिल्पियों की श्रेणियों के लिये नहीं, अपितु नगरवासियों (पौराणों) के समूहों के लिए प्रयुक्त हुआ है। नगरवासियों के समूहों में शिल्पियों की औद्योगिक श्रेणियों के अतिरिक्त, व्यापारियों के संगठन तथा अन्य लोगों के समूह भी होते थे। औद्योगिक श्रेणियों को अमरकोश (2.10) में शूद्र-वर्ग के अन्तर्गत रखा गया है। ऐसी स्थिति में डी० डी० कोसम्बी का यह मत समीचीन नहीं लगता कि अमरकोश में राज्य के सात प्रधान अंगों (स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोश, राष्ट्र, दुर्ग एवं बल) के अतिरिक्त केवल शिल्पियों को उनके महत्त्व की दृष्टि से राज्य के अंग के रूप में माना गया है। वास्तव में नगरों में व्यापारियों की श्रेणियाँ अधिक प्रभावशाली थीं।³

शिल्पियों एवं व्यापारियों के व्यावसायिक क्रिया-कलाप के अधिक व्यवस्थित होने के साक्ष्य उन मुहरों से मिलता है जो कई स्थानों से प्राप्त हुयी हैं। बसाढ़ (प्राचीन वैशाली) से प्राप्त कई मिट्टी की मुहरों पर मिलने वाले लेख⁴ निम्नवत् हैं :--

- (1) श्रेष्ठि-सार्थवाह-कुलिक-निगम।
- (2) श्रेष्ठि-कुलिक-निगम।
- (3) श्रेष्ठि-निगम (वह निगम जिसका प्रमुख श्रेष्ठि होता था)⁵।
- (4) कुलिक निगम (वह निगम जिसका प्रमुख कुलिक होता था)⁶।

1. वही, "दि वर्किंग क्लास इन दि अमरकोश"; डी० डी० कोसम्बी आन हिस्ट्री ऐण्ड सोसाइटी, सम्पादक ए० जे० सैयद, बम्बई, 1985, पृ० 189.

2. स्वाम्यामात्य-सुहृद्-कोश-राष्ट्र-दुर्ग-बलानि च।
राज्यांगानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च॥ - अमरकोश, 2.8.18.

3. वासुदेव शरण अग्रवाल : बृहत्कथाश्लोक-संग्रह- ए स्टडी, वाराणसी, 1974, पृ० 352-28.1, 2 पर टिप्पणी। इस ग्रन्थ की रचना बुद्धस्वामिन् द्वारा गुप्त काल में की गयी थी।

4. आर्किअलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया की वार्षिक रिपोर्ट, 1903-4, पृ० 107 और आगे; वही, 1911-12, पृ० 56; वही, 1913-14, पृ० 138 और आगे; रमेश चन्द्र मजूमदार, प्राचीन भारत में संघटित जीवन, पृ० 42, 43.

5 एवं 6. डी० सी० सरकार, स्टडीज इन दि पोलिटिकल ऐण्ड ऐडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम्स आफ एन्शेंट ऐण्ड मेडीवल इंडिया, दिल्ली 1974, पृ० 263.

इनमें से 'कुलिक-निगम' लेख वाली मुहरें प्रस्तुत सन्दर्भ में अधिक विचारणीय हैं। इलाहाबाद जनपद (उ०प्र०) के भीटा नामक पुरास्थल से प्राप्त एक मुहर पर भी 'कुलिक निगम' लेख मिलता है।¹ बसाढ़ से प्राप्त एक मुहर पर मिलने वाले लेख में हरि नामक एक व्यक्ति अपने को 'कुलिक' और 'प्रथम कुलिक' दोनों बताता है।² कुलिक शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों ने कई अनुमान लगाये हैं।³ पर अमरकोश⁴ के शूद्र-वर्ग में इसी से मिलते-जुलते 'कुलक' शब्द का अर्थ कारु-शिल्पी की श्रेणि का प्रधान⁵ बताया गया है, और इस कोश के टीकाकार क्षीरस्वामी⁶ ने कुलक और कुलिक को समानार्थक मानने की परम्परा का स्पष्ट उल्लेख किया है। यह साक्ष्य कुछ विद्वानों द्वारा कुलक एवं कुलिक के समानार्थक होने के अनुमान⁷ की पुष्टि करता है।

अब यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि कुलिक, जो शिल्पि-श्रेणि का प्रधान होता था, मुहरों पर मिलने वाले लेखों में क्यों निगम का प्रधान उल्लिखित है। निगम शब्द अमरकोश के नानार्थ वर्ग (3.139) में दिया गया है, जिसका अर्थ वणिक्पथ, पुर (नगर), वेद आदि बताया गया है। विश्वप्रकाश⁸ कोश में इसका अर्थ वाणिज (व्यापारी) भी मिलता है। महावस्तु अवदान⁹ में निगम शब्द व्यापारियों के संगठित समूह के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसका प्रमुख श्रेष्ठि बताया गया है। पर अगर निगम व्यापारियों का संगठन था तो शिल्प-श्रेणि का प्रधान कुलिक उससे किस प्रकार सम्बन्धित था? यहाँ भी हमें अमरकोश पर क्षीरस्वामी की टीका से कुछ संकेत मिलता है। अमरकोश (2.10.5) में कुलिक को कुलश्रेष्ठि भी कहा गया है और अपनी टीका में क्षीरस्वामी ने, 'कुल' का अर्थ 'वणिग्वृन्द' (कुले वणिग्वृन्दे) बताते हुये, कुलश्रेष्ठि को उस वणिक्समूह का प्रधान माना है

-
- 1 ऊपर उद्धृत वार्षिक रिपोर्ट, 1911-12, पृ० 56, संख्या 55ए; किरन कुमार थपल्याल, गिल्ड्स इन एन्शेंट इंडिया, पृ० 173.
 - 2 ऊपर उद्धृत वार्षिक रिपोर्ट, 1903-4, पृ० 104.
 - 3 के० पी० जायसवाल के अनुसार, यह नगर का न्यायाधीश था; हिन्दू पालिटी, भाग 1, पृ० 53. टी० ब्लाख इसे व्यापारी मानते हैं; ऊपर उद्धृत वार्षिक रिपोर्ट, 1903-4, पृ० 104
 - 4 कारुः शिल्पी संहतैस्तैर्द्वयोः श्रेणिः सजातिभिः।
कुलकः स्यात् कुलश्रेष्ठि.....॥ - अमरकोश, 2.10.5.
 - 5 उपर्युक्त श्लोक की टीका में क्षीरस्वामी ने कुलक को श्रेणि आदि में श्रेष्ठ (श्रेण्यादौ श्रेष्ठार्थः) बताया है।
 - 6 कुलं कायति कुलकः, कुलिक इत्यन्ये.....॥ - अमरकोश, 2.10.5 पर क्षीरस्वामी।
 - 7 उदाहरणार्थ, राम शरण शर्मा, शू० ए० इ०, पृ० 270.
 - 8 विश्वप्रकाश कोश, पृ० 113, श्लो० 42.
 - 9 श्रेष्ठिप्रमुखो निगमः - महावस्तु अवदान, जिल्द 3, पृ० 592.
श्रेष्ठिप्रमुखो वणिग्वृन्दः- वही, पृ० 154.
महावस्तु अवदान (जिल्द 3, पृ० 592) में मिलता है कि राजगृह का निगम जिसका प्रमुख श्रेष्ठि था (श्रेष्ठि प्रमुखो निगमो), उस नगर की सभी अष्टादश श्रेणियाँ तथा अन्य समूह राजा की घोषणा सुनकर राजद्वार पर एकत्रित हुए।

(वणिग्वृन्दे श्रेष्ठत्वमस्त्यस्य कुलश्रेष्ठी)। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कुलिक उन शिल्पियों के समूह का प्रधान रहा होगा जो किसी शिल्प में औद्योगिक उत्पादन कर अपने द्वारा उत्पादित वस्तुओं का विक्रय भी करते रहे होंगे। इस प्रकार वे शिल्पी एवं व्यापारी दोनों होने के कारण काफी समृद्ध रहे होंगे। सामान्य शिल्पियों की अपेक्षा उनका आर्थिक स्तर¹ काफी ऊँचा रहा होगा। इस प्रकार यह सम्भावना लगती है कि ऐसे शिल्पियों का अलग संगठन बन गया होगा, जो व्यापारियों के निगम के तुल्य रहा होगा। उपर्युक्त 'प्रथम कुलिक' मुहर-लेख से यह स्पष्ट है कि नगर में एक से अधिक कुलिक-निगम होते थे और उनमें से सर्वश्रेष्ठ को प्रथम या प्रधान माना जाता था। मुहरों पर मिलने वाले श्रेष्ठि-कुलिक-निगम एवं श्रेष्ठि-सार्थवाह-कुलिक-निगम क्रमशः व्यापारियों एवं शिल्पी-वणिजों तथा व्यापारियों, सार्थवाहों एवं शिल्पी-वणिजों के संयुक्त² निगम रहे होंगे। उक्त मुहर-लेखों में श्रेष्ठि का उल्लेख सबसे पहले होने के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह संयुक्त निगम का भी अध्यक्ष होता था। एक से अधिक घटक/घटकों के समावेश से यह स्पष्ट है कि इनके संघटन का आधार विवृत था। बसाढ़ के मुहर-लेखों से ज्ञात इन निगमों के संघटन में एकरूपता न होने के कारण यह संदिग्ध हो जाता है कि ये नगर-प्रशासन का संचालन³ करते थे। ये निगम नगर-प्रशासन हेतु गठित बोर्ड या नगर-परिषद न होकर व्यावसायिक हित-सम्बर्धन के उद्देश्य से बने संगठन लगते हैं। इनमें कुलिकों की उपस्थिति उच्च स्तर के समृद्ध शिल्पियों के महत्त्व में वृद्धि की सूचक है।

जनपद स्तर पर राज्य-प्रशासन में कुलिकों (शिल्पियों के प्रमुखों) में श्रेष्ठ प्रथम कुलिक की भागीदारी के स्पष्ट प्रमाण कुछ अभिलेखों में मिलते हैं। गुप्त सम्राट कुमारगुप्त के शासन-काल के 433 ई० एवं 438 ई० के दो अभिलेखों⁴ में कोटीश्वर (उत्तरी बंगाल) के अधिकरण (जनपद-प्रशासन की सलाहकार समिति)⁵ के

1 शिल्पियों में स्तर-भेद की परम्परा पहले से ही चली आ रही थी। अर्थशास्त्र में भी हमें महाकारवः एवं क्षुद्रकारवः का विभेद मिलता है। द्रष्टव्य ऊपर।

2 तुलनीय किरन कुमार थपल्लाल, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 11.

3 रमेश चन्द्र मजूमदार के अनुसार, ये नगर-प्रशासन के संचालक के रूप में मान्य थे, प्राचीन भारत में संघटित जीवन, पृ० 43-44.

डी० सी० सरकार के मतानुसार, इन मुहर-लेखों में आने वाले 'निगम' शब्द से नासिक अभिलेख (120 ई०) में मिलने वाली 'निगम सभा' (नगर-परिषद्) का अर्थ ग्रहण करना चाहिए, स्टडीज इन पोलिटिकल ऐण्ड एडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम्स आफ एन्शेंट ऐण्ड मेडीवल इंडिया, पृ० 263. नगर-सभा एक प्रशासनिक बोर्ड की भाँति थी जिसका शिल्पि-श्रेणियों पर भी सामान्य प्रशासनिक नियन्त्रण होता था। अनेकार्थक निगम शब्द का अर्थ—जैसा कि अमरकोश में मिलता है— इस अभिलेख में भी सन्दर्भानुसार नगर प्रतीत होता है। पर नगर से नगर-सभा का अर्थ निकालना खींच-तान जैसा लगता है।

4 एपि० इ०, जिल्द 15, पृ० 130.

5 रामशरण शर्मा, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 270.

एक सदस्य¹ के रूप में प्रथम कुलिक घृतिमित्र का उल्लेख मिलता है। इस जनपद का शासनाधिकारी एक कुमारामात्य था।

धर्मशास्त्र परम्परा में एक सामान्य नियम था कि शिल्पियों से कर नहीं लिया जाना चाहिए। पर इसके बावजूद सम्पन्न शिल्पियों से कर लिया जाता था। गुप्त काल में ऐसे शिल्पियों से राज्य द्वारा कर लेने की प्रथा के विवृत होने के कुछ साक्ष्य मिलते हैं।² महाभारत के शान्तिपर्व³, जो इस काल की स्थिति पर प्रकाश डालता है, में यह विधान मिलता है कि शिल्पियों से उनके द्वारा वस्तुओं के उत्पादन की परिस्थितियों एवं उनके शिल्प के स्वरूप आदि को ध्यान में रखकर, शिल्पोत्पादित वस्तुओं के रूप में (शिल्पप्रतिकरानेव)⁴ नियमित रूप से (असकृत्) कर लेना चाहिए। दक्षिण भारत के एक पल्लव अभिलेख⁵ (446 ई०) में भी लोहकारों, चर्मकारों, बुनकरों, नाइयों आदि द्वारा राजा को कर देने का उल्लेख मिलता है। करधान-सम्बन्धी इस साक्ष्य से भी शिल्पियों की समृद्धि पर प्रकाश पड़ता है।

पर गुप्तकाल में निम्न स्तर के शिल्पियों की स्थिति में गिरावट दिखायी देती है। इस काल में बेगार (विष्टि) लेने की प्रथा में वृद्धि के साक्ष्य मिलते हैं।⁶ वराहमिहिर के ज्योतिष के ग्रन्थ बृहज्जातक⁷ के साक्ष्य से यह संकेत मिलता है कि निम्न आर्थिक स्थिति के लोगों से विष्टि ली जाती थी। इसमें मिलता है कि बृश्चिक एवं धनु के नवांशों में उत्पन्न व्यक्ति क्रमशः विष्टिकृत् (बेगार करने वाले) एवं दास होते हैं। विष्टिकृत् को दासों के साथ रखे जाने से यह स्पष्ट है कि ये निम्न आर्थिक स्तर के लोग हुआ करते थे, जिनसे बेगार लिया जाता था। बृहज्जातक (18.11) में एक अन्य स्थल पर जन्म के समय शनि की राशियों (मकर एवं कुम्भ) में बुध के होने का फल परकर्मकृत् (दूसरे का कार्य करने वाला), शिल्पबुद्धि (शिल्प को जानने वाला), दरिद्र, ऋणवान् एवं विष्टिकर (बेगार करने वाला) होना बताया गया है। यहाँ निम्न आर्थिक स्तर के शिल्पियों को विष्टिकर्म से स्पष्ट

1. इस समिति के अन्य तीन सदस्य थे- नगर श्रेष्ठि धृतपाल, सार्थवाह बन्धुमित्र एवं प्रथम कायस्थ साम्बपाल। नगर श्रेष्ठि इसका अध्यक्ष रहा होगा।

2. तुलनीय रामशरण शर्मा, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 263.

3. शान्ति पर्व (पूना संस्करण), 88.12; माल के रूप में कुछ शिल्पियों से कर लेने का विधान मनुस्मृति (7.132) में भी मिलता है।

4. अर्थशास्त्र में प्रतिकर का अर्थ कर के स्थान पर उत्पाद लेना मिलता है। कौटिलीय अर्थशास्त्र (कांगले), 2.35.1.

5. एपि० इ०, जिल्द 24, अभिलेख संख्या 43.

6. डी० एन० झा, रेवेन्यू सिस्टम इन पोस्ट-मौर्य एण्ड गुप्त टाइम्स, पृ० 69. अभिलेखीय साक्ष्य से ज्ञात होता है कि कभी-कभी भूमि-दान के साथ बेगार लेने का राजा का अधिकार भी दान-प्राप्तकर्ता को हस्तान्तरित कर दिया जाता था।

7. बृहज्जातक, 21.7.

रूप से सम्बन्धित किया गया है। पर विष्टि शिल्पियों के अतिरिक्त अन्य सामान्य लोगों से अन्य कार्यों के लिए भी ली जाती थी।¹ शिल्पियों से विष्टि (बेगार) लिये जाने की प्रथा का साक्ष्य गुप्तोत्तर काल में भी मिलता है। गुजरात से प्राप्त 592 ई० के एक अभिलेख² में एक वणिक्-समूह (वणिग्ग्राम) के मध्य रहने वाले लोहकार, रथकार, नापित, कुम्भकार इत्यादि से वारिक द्वारा विष्टि लिये जाने का विधान मिलता है।

गुप्तोत्तर काल (पूर्व मध्यकाल) में व्यापार एवं नगरों की अवनति के क्रम में शिल्पि-श्रेणियों की आर्थिक एवं संगठनात्मक स्थिति में हास के सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है।³ यहाँ इस काल में शिल्पियों एवं उनके वर्गों की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में विचार करना अभिप्रेत है। इस सन्दर्भ में जिनेश्वर सूरि के कथाकोश-प्रकरण⁴ (विक्रम संवत् 1108) में तत्कालीन समाज के वर्गीकरण का साक्ष्य महत्त्वपूर्ण लगता है। इस ग्रन्थ में एक वर्ग धर्माचार्यों एवं पुरोहितों का तथा दूसरा गृहस्थों का बताया गया है। गृहस्थों का वर्गीकरण निम्नवत् किया गया है :

1. उत्तमुत्तमा (सर्वोच्च लोग)– इनमें चक्रवर्ती आदि सबसे बड़े नरेश थे।
2. उत्तमा (उच्च लोग)– इनमें अपेक्षाकृत छोटे नरेश, सामन्त, एवं भूमिपति आदि (रायादयो) थे।
3. मज्झिमा (मध्यम श्रेणी के लोग)– इनमें श्रेष्ठि, सार्थवाह, आदि थे, जो व्यापार, कृषि, कुसीद आदि में संलग्न रहते थे और उनके पास गायें, भैंसें, ऊँट, घोड़े आदि होते थे।
4. विभज्झिमा – सेसकुटुंबिणो (निम्न मध्यम श्रेणी के लोग)– इनमें छोटे व्यापारी और सामान्य कृषक आदि थे।
5. अहमा (अधम या निम्न लोग)– इनमें श्रेणियों में संगठित (सेणिगया) शिल्पी-- सुवर्णकार, कुम्भकार, लोहकार, धोबी, आदि-- थे। यह वर्ग शिल्पियों एवं कर्मकरों (शिल्प-कर्मकर-समुदाय) का बताया गया है।
6. अहमाहमा (अत्यन्त अधम या निम्न लोग)– इनमें चण्डाल एवं हीन वृत्तियों को करने वाले अन्य लोग थे।

1. जी० के० राय, इनवालन्टरी लेबर इन एन्शेंट इंडिया, पृ० 180 और आगे।

2. एपि० इ०, जिल्द 30, पृ० 171; द्रष्टव्य ऊपर, अध्याय 2.

3. द्रष्टव्य ऊपर, अध्याय 2.

4. कथाकोश-प्रकरण, भूमिका, पृ० 116-117; पृ० 155 (मूल पाठ); बी० एन० एस० यादव, सो० क० ना० इ०, पृ० 54.

इस प्रकार यहाँ सामाजार्थिक परिप्रेक्ष्य में ऊँच-नीच के अनुक्रम में शिल्पियों एवं कर्मकरों को पाँचवे स्थान पर निम्न (अधम) वर्ग में, केवल चण्डालों आदि के ऊपर, रखा गया है। इससे सामान्य शिल्पियों की निम्न सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति परिलक्षित होती है। इस अनुक्रम में श्रेष्ठिन् लोगों का-- जिन्हें कुछ स्रोतों¹ में शिल्पियों का पालक एवं आश्रय बताया गया है-- तीसरा स्थान मिलता है। गुजरात में भुवनदेव (12वीं शताब्दी) द्वारा रचित अपराजितपृच्छा² नामक शिल्पशास्त्र के ग्रन्थ में भी वेदि-निर्माण के सन्दर्भ में, वर्ण एवं वृत्ति के मिले-जुले आधार पर, एक ऊँच-नीच का सामाजिक अनुक्रम मिलता है। इसमें ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों, कर्षकों और प्रकृतियों (शिल्प-श्रेणियों से सम्बद्ध शिल्पियों) के लिए क्रमशः 7, 6, 5, 4, 3 एवं 2 या 1 हस्त माप की वेदियों के निर्माण किये जाने का विधान किया गया है। इस वेदि-निर्माण के विधान में भी सामाजिक अनुक्रम में शिल्पियों का स्तर निम्नतम परिलक्षित होता है। पहले के काल में शिल्पी शूद्र वर्ण के ही अन्तर्गत थे। पर यहाँ इनके प्रवर्ग का सामाजिक स्तर शूद्रों से-- तथा कर्षकों से भी-- निम्न सूचित होता है।

इन साक्ष्यों से यह लगता है कि पूर्व मध्यकाल में भारत में शिल्पियों एवं कारीगरों की सामाजिक स्थिति में गिरावट आयी। शौचाशौच की भावना एवं श्रम को हेय मानने की प्रवृत्ति में वृद्धि इसके कुछ मुख्य कारण रहे होंगे। कुछ विद्वानों के अनुसार निम्न जातियों एवं समुदायों के साथ इनका सम्पर्क इसका कारण था।³ पर इसमें सामन्ती परिस्थितियों का भी योगदान हो सकता है। सामन्ती व्यवस्था के अन्तर्गत यूरोप, जापान एवं चीन में भी शिल्पियों एवं कारीगरों की स्थिति बहुत निम्न थी और सामान्यतः उन्हें सामन्ती अभिजात वर्ग के लिये विलासिता के सामान बनाने का साधन ही माना जाता था।⁴

धर्मशास्त्र परम्परा में निम्नतम जातियों (अन्त्यज) की संकल्पना एवं उनके परिगणन के क्रम में भी हमें शिल्पियों एवं कारीगरों के समुदायों की सामाजिक स्थिति में गिरावट दृष्टिगोचर होती है। अत्रि स्मृति (600-900

1. द्रष्टव्य ऊपर, अध्याय 2.

2. अपराजितपृच्छा, सम्पादक पी० ए० मनकड, 77.15-16.

3. उदाहरणार्थ, लल्लन जी गोपाल, दि ईकोनॉमिक लाइफ आफ नार्दर्न इंडिया-- लगभग 700-1200 ई०, पृ० 83.

4. गिडिअन स्जोबर्ग, दि अमेरिकन जर्नल आफ सोसिऑलोजी, जिल्द 58, नम्बर 3, पृ० 232, 234-35; बी० एन० एस० यादव, सो० क० ना० ई०, पृ० 43, 97 पादटिप्पणी 473.

ई०) में सात¹ अन्त्यज समुदायों का नाम मिलता है, जिनमें से तीन—रजक² (धोबी), चर्मकार एवं बुरुड (बाँस का काम करने वाले)—शिल्प एवं कारीगरी की वृत्तियों से सम्बन्धित थे। अन्य चार अन्त्यज कैवर्त, मेद एवं भिल्ल (दो आदिवासी जन-जातियाँ) तथा नट (नर्तक जाति के लोग) थे। ऐसा लगता है कि इसी क्रम में अन्य शिल्पी भी अन्त्यजों की तालिका में शामिल किये जाने लगे। वेद-व्यास स्मृति³ (600-900 ई०) में जुलाहों (कोलिकाः) को भी इसी तालिका में शामिल कर लिया गया।

11वीं शताब्दी में अल्बेरूनी⁴ ने जिन लोगों का उल्लेख अन्त्यज की कोटि में किया था उनमें भी धोबी, चर्मकार, जुलाहा और डलिया एवं ढाल बनाने वाले शिल्पी एवं कारीगर थे। अल्बेरूनी के अनुसार, ये अपनी-अपनी श्रेणियों में संगठित थे और नगरों या ग्रामों⁵ के बाहर रहते थे। तेरहवीं शताब्दी में हेमाद्रि⁶ ने तक्षक (बढ़ई), स्वर्णकार, सौचिक (दर्जी), तिलयन्त्री (तैलिक), ध्वजी (शराब बनाने एवं बेचने वाला), नापित एवं लोहकार को भी अन्त्यज मान लिया। हेमाद्रि का धर्मशास्त्र-ग्रन्थ भारत के दक्कन क्षेत्र की स्थिति पर प्रकाश डालता है। उत्तर भारत में कश्मीर के क्षेत्र में, जैसा कि नीलमत पुराण से ज्ञात होता है, शिल्पियों एवं कारीगरों के प्रति सामान्यतः अपेक्षाकृत उदार दृष्टिकोण था, और उनमें तथा उच्च वर्गों के लोगों में विशेष अवसरों पर उपहारों का आदान-प्रदान भी होता था।⁷ पर ऐसा नहीं लगता है कि सभी प्रकार के शिल्पियों के साथ इस प्रकार का सम्बन्ध रहा होगा।

1 रजकश्चर्मकारश्च नटो बुरुड एव च।

कैवर्तमेदभिल्लाश्च सप्तैते चान्त्यजाः स्मृताः॥

काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जिल्द 2, भाग 1, पृ० 70 पादटिप्पणी 170. अङ्गिरस और यम की स्मृतियों में भी यही तालिका मिलती है; काणे, वही।

2 रजक सेवा-शिल्प से सम्बन्धित था।

3 वही, 1.12 : स्मृतीनां समुच्चयः, सम्पादक वी० जी० आप्टे, पृ० 357. ए० पी० ओझा, “वीवर्स इन एन्शेंट इंडियन सोसाइटी ऐण्ड इकॉनमी”, जर्नल आफ दि ईश्वरी प्रसाद इंस्टीट्यूट आफ हिस्ट्री, जिल्द 2, भाग 2, पृ० 91.

4 अलबेरूनीज इंडिया, सम्पादक एवं अनुवादक एडवर्ड सी० सखाउ, जिल्द 1, पृ० 101.

5 सामान्य ग्रामों के बाहर रहने वाले शिल्पियों की विधिवत् गठित श्रेणियाँ न रही होंगी।

कश्मीरी वैयाकरण कैयट (11वीं शताब्दी) की महाभाष्य (7.3.14) पर टीका में नगर की परिभाषा से ज्ञात होता है कि केवल नगर ही श्रेणीधर्म-संयुक्त संस्थान होते थे—प्राकारपरिखान्वितं श्रेणीधर्मसंयुक्तं संस्थानम्। इसी सन्दर्भ में यहाँ ग्राम की एक अलग परिभाषा मिलती है—ब्राह्मणकर्षकपुरुषप्रधानो देशो ग्रामः। उद्धृत द्वारा महामहोपाध्याय भीमाचार्य झलकीकर, न्यायकोश, पृ० 400. पर शिल्पियों के जो अपने ग्राम नगरों के समीप होते रहे होंगे उनमें भी किसी न किसी रूप में श्रेणियाँ रही होंगी।

6 चतुर्वर्ग-चिन्तामणि, प्रायश्चित्त काण्ड, पृ० 998. बी० एन० एस० यादव, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 46, 99 पादटिप्पणी 516.

7 रंजना बाजपेयी, सोसाइटी इन इंडिया इन दि सेविंथ सेंचुरी, ए० डी०, पृ० 21.

कथाकोश-प्रकरण¹ एवं अपराजितपृच्छा² के सम्मिलित साक्ष्य से यह ज्ञात होता है कि पूर्व मध्यकाल में शिल्पियों के निम्न सामाजिक स्तर के अनुरूप शिल्प-श्रेणियों की सामाजिक स्थिति में सामान्यतः गिरावट आयी। दक्षिण भारत के देवणभट्ट-रचित धर्मशास्त्र-ग्रन्थ स्मृतिचन्द्रिका³ (1200-1225 ई०) में भी सभी अष्टादश श्रेणियों को हीन जातियाँ बताया गया है। विभिन्न शिल्प-श्रेणियों में ऊँच-नीच का अनुक्रम स्थापित करने की प्रवृत्ति भी गहरी होने लगी। जैन ग्रन्थ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति⁴ में जातियों के रूप में माने जाने वाली शिल्पियों एवं कुछ अन्य लोगों की कुल 18 श्रेणियों (प्रकृतियों-वर्णों) को स्पृश्य-अस्पृश्य के आधार पर दो भागों में विभाजित किया गया है-- नारुआ और कारुआ। नारुआ प्रवर्ग के अन्तर्गत कुम्भकार, पट्टइल्ल (जुलाहा), सुवण्णकार (सुवर्णकार), सूवकार (सूपकार), गन्धर्व (गायक), कसवग (नापित), मालाकार, कच्छकार एवं ताम्बोलिआ (ताम्बूलिक) को गिनाया गया है। इनमें से गन्धर्व को छोड़कर अन्य सब शिल्पियों एवं कारीगरों की श्रेणियाँ थीं। इन सब को अस्पृश्य नहीं माना जाता था।

कारुआ के अन्तर्गत चम्पयरु (चर्मकार), जन्तपीलग (तैलिक), गंछिअ⁵, छिम्पाय (रंगरेज), कंसकार (कांस्यकार), सीवग (दर्जी), गुआर, भिल्ल एवं धीवर मिलते हैं। इनमें से अन्तिम तीन को छोड़कर अन्य सभी शिल्पियों की श्रेणियाँ थीं। कारुआ प्रवर्ग के सभी अस्पृश्य बताये गये हैं। इस प्रकार पूर्व मध्यकाल में कई व्यवसायों में संलग्न शिल्पियों को अस्पृश्य मानने की प्रथा का उदय दृष्टिगोचर होता है। इसमें तत्कालीन रुढ़ ग्रामीण सामाजार्थिक व्यवस्था⁶ एवं शौचाशौच के विचारों की अधिक पकड़ का विशेष योगदान रहा होगा।

जिनदास गणि (7वीं शताब्दी) की निशीथ-चूर्णि से ज्ञात होता है कि शिल्प-समुदायों में से कुछ को तिरस्कृत मानने के सम्बन्ध में क्षेत्रीय अन्तर थे।⁷ उदाहरणार्थ, धोबी (गिल्लेवग) को सिन्धु के क्षेत्र में और

1 एवं 2. द्रष्टव्य ऊपर।

3. श्रेणयो रजकाद्यष्टादश हीनजातयः।

स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, भाग 1, पृ० 40; बी० एन० एस० यादव, सो० क० ना० इ०, पृ० 42, 96 पादटिप्पणी 463.

4. अमरचन्द्र सूरि रचित पद्यानन्द महाकाव्य, बड़ौदा, 1932, परिशिष्ट, पृ० 592-93 (पर उद्धृत)। बी० एन० एस० यादव, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 42; लल्लन जी गोपाल, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 83-84.

जिनसेन (सातवीं शताब्दी) के जैन महापुराण (16.185, 186) में भी स्पृश्यास्पृश्य के आधार पर कारुओं का द्विविभाजन मिलता है।

5. हेमचन्द्र (12वीं शताब्दी) की देसी नाममाला (2.84) के अनुसार यह वरुड था।

6. विवेकानन्द झा, "स्टेजेस इन दि हिस्ट्री आफ अनटचेबिलिटी", दि इंडियन हिस्टोरिकल रिव्यू, जिल्द 2, नम्बर 1, पृ० 30.

7. मधु सेन, ए कल्चरल स्टडी आफ दि निशीथ चूर्णि, पृ० 89.

लोहार एवं कल्लाल (शराब बनाने एवं बेचने वाले) को दक्षिणापथ में तिरस्कृत (जुंगित) माना जाता था।¹ पर लाट क्षेत्र में उन्हें ऐसा नहीं माना जाता था : इस क्षेत्र में वरुड (बाँस का काम करने वाले) एवं चम्मकार (चर्मकार) तिरस्कृत समझे जाते थे।² इसी प्रकार हम देखते हैं कि वेद-व्यास स्मृति एवं अल्बेरूनी³ के विवरण में जुलाहों को अन्त्यज माना गया है। पर हेमचन्द्र (12वीं शताब्दी) के त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित्र⁴ में उनका व्यवसाय किसी भी प्रकार के सामाजिक लांछन से मुक्त बताया गया है। यहाँ भी क्षेत्रीय अन्तर ही रहा होगा।

शिल्पि-समुदायों में ऊँच-नीच का अनुक्रम स्थापित करने की बढ़ती प्रवृत्ति पूर्व मध्यकाल और कुछ बाद में रचित पुराणों में भी दृष्टिगोचर होती है। बृहद्भर्मपुराण⁵ (13वीं शताब्दी) में संकर जातियों के वर्गीकरण के सन्दर्भ में विभिन्न जातियों के साथ शिल्पियों का निम्नवत् त्रिविभाजन अवरोही क्रम में मिलता है :

- (1) उत्तम संकर— तन्तुवाय (जुलाहा), गान्धिक-वणिक (इत्र आदि बनाने एवं बेचने वाले), नापित, कर्मकार (लोहार), कुम्भकार⁶, कंसकार (कांस्यकार), शांखिक (शंख का काम करने वाले), मालाकार, ताम्बूली (ताम्बूलिक)।
- (2) मध्यम संकर— तक्षन् (बढ़ई), रजक (धोबी), सुवर्णकार, तैलकारक (तैलिक), शौण्डिक (शराब बनाने एवं बेचने वाले)।
- (3) अधम संकर— वरुड, चर्मकार।

1. वही।

2. वही। मार्को पोलो के विवरण (द्रष्टव्य ऊपर, अध्याय 1) से यह सूचित होता है कि 12वीं शताब्दी में गुजरात में चर्म-उद्योग काफी उन्नत स्थिति में था। पर चर्मकारों की सामाजिक स्थिति में इसके अनुरूप उत्कर्ष का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। शिल्प-उद्योग की उन्नत स्थिति के अनुरूप शिल्पियों की उन्नत स्थिति होना अनिवार्य नहीं होता। प्राचीन काल में यूरोप में कहीं-कहीं दासों द्वारा बनाये गये मृदभाण्ड स्वतन्त्र कुम्भकारों द्वारा बनाये गये मृदभाण्डों से अधिक उत्कृष्ट होते थे; एम० आई० फिनले, दि एन्शेंट इकॉनमी, पृ० 82.

3. द्रष्टव्य ऊपर।

4. वही, जिल्द 2, पृ० 118; उद्धृत द्वारा बी० एन० एस० यादव, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 43.

5. बी० एन० एस० यादव, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 47-48.

6. ब्रह्मवैवर्त पुराण (10.8, 9, 20) में भी कुम्भकार को, आठ अन्य शिल्पकार-समुदायों के साथ, सत्यद्रु की कोटि में रखा गया है; ए० पी० ओझा, "पोजीशन आफ पाटर्स इन दि सोशियो-रीजनल स्ट्रैटिफिकेशन आफ अर्ली मेडिअल इंडिया", जर्नल आफ दि गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जिल्द 38 एवं 39, पृ० 133.

इस पुराण की रचना बंगाल क्षेत्र में हुयी थी। अतः यह विशेष रूप से वहीं की स्थिति का द्योतक माना जा सकता है। यहाँ सुवर्णकार को लोहकार (लोहार) के नीचे माना गया है, पर पूर्वी भारत में ही रचित कुछ पहले के काल के बृहन्नारदीय पुराण¹ में स्वर्णकार को लोहकार से ऊँचा माना गया है। इस प्रकार एक ही क्षेत्र में भी इस सम्बन्ध में वैचारिक या स्थानीय अन्तर रहे होंगे।

आनुष्ठानिक अनुक्रम में निम्न स्थान पर माने जाने वाले शिल्पी आर्थिक सम्पन्नता प्राप्त कर लेने के बाद कहीं-कहीं सामाजिक प्रतिष्ठा की मान्यता भी प्राप्त कर लेते थे। दक्षिण भारत में समृद्ध जुलाहों एवं कुम्भकारों— जो शिल्पी होने के साथ-साथ व्यापारी भी होते थे— द्वारा राजाओं से सामाजिक अधिकार प्राप्त कर लेने का कुछ साक्ष्य मिलता है।² पर इस प्रकार के उदाहरण अधिक नहीं मिलते हैं। उत्तर भारत में भी कुछ हद तक यह प्रवृत्ति क्रियाशील रही होगी। कुछ अभिलेखों में हम सम्पन्न तैलिकों द्वारा मन्दिरों को दान दिये जाने के उल्लेख पाते हैं।³ गुजरात के नरेश कुमार पाल (12वीं शताब्दी) ने सज्जन नामक एक कुम्भकार को चित्तौड़ का शासक बनाया था; सज्जन द्वारा देव समिद्धेश्वर को एक घाणक तेल के दान का भी उल्लेख एक अभिलेख में मिलता है।⁴ मन्दसौर जिले के मोदी ग्राम से प्राप्त एक परमार अभिलेख (1258 ई०) से ज्ञात होता है कि कई अन्य लोगों के अलावा चार जवाहरात का काम करने वालों ने भी इस ग्राम के एक मन्दिर को एक भूमि-खण्ड दान किया था।⁵ इस प्रकार सामाजिक अनुक्रम में आरोपित आनुष्ठानिक स्तर एक होते हुये भी आर्थिक एवं अन्य उपलब्धियों के आधार पर शिल्पि-समुदायों के अन्तर्गत स्तर-भेद था।⁶

राजाओं, सरदारों तथा मठों एवं मन्दिरों से प्रतिबद्ध शिल्पियों एवं कारीगरों को ए० के० कुमारस्वामी⁷ ने एक अलग वर्ग में रखा है। राजाओं एवं सरदारों से प्रतिबद्ध शिल्पियों को अपने आश्रयदाताओं से भूमि भी मिल

-
1. वही, 30.2.
 2. टी० वी० महालिंगम्, साउथ इंडियन पालिटी, पृ० 395 और आगे। पर वहाँ व्यापारियों के एक समूह द्वारा स्थानीय शिल्पि-श्रेणियों पर नियन्त्रण स्थापित करने का भी साक्ष्य मिलता है; वही, पृ० 403.
 3. एपि० इ० जिल्द 1, पृ० 154 और आगे; जिल्द 23, पृ० 141; इत्यादि।
 4. दशरथ शर्मा, अली चौहान डिनैस्टीज, पृ० 57, 248.
 5. का० इ० इ०, VII, भाग 2, पृ० 194-200. ओम प्रकाश, अली इंडियन लैंड ग्रान्ट्स ऐण्ड स्टेट इकॉनॉमी, पृ० 142.
 6. इस प्रकार का स्तर-भेद हमें पहले के काल में भी मिलता है; द्रष्टव्य ऊपर।
 7. दि इंडियन क्राफ्ट्समैन, अध्याय 3. इस वर्ग को इन्होंने सामन्ती शिल्पियों का वर्ग कहा है।

जाती थी। बुद्धघोस (5वीं शताब्दी) की समन्त-पासादिका¹ से ज्ञात होता है कि बौद्ध विहारों से प्रतिबद्ध किये गये जुलाहों एवं धोबियों को अलग-अलग समयानुसार संधाराम का काम करना पड़ता था। खाली समय में वे अपना काम करते थे। पर वे आवश्यकतानुसार पूर्णकालिक कर्मकर के रूप में नियोजित किये जा सकते थे। जब विहार का कोई काम नहीं रहता था तो वे कर्मकर के रूप में दूसरों का काम करते थे, पर इसके लिए उन्हें कुछ कर के रूप में संधाराम को देना पड़ता था। बुद्धघोस ने इन दोनों को दास कहा है, पर वे आश्रित कर्मकर की भाँति ही थे। समन्त-पासादिका में उल्लिखित परम्परा गुप्तोत्तर काल में भी प्रचलित रही होगी।

गुप्तोत्तर काल में मन्दिर-निर्माण की परम्परा का काफी विकास एवं विस्तार हुआ। शिल्पी भी मन्दिरों को दान² देते थे और उनमें से समृद्ध लोग मन्दिर-निर्माण³ भी कराते थे। पर कभी-कभी शासकों द्वारा मन्दिरों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शिल्पियों एवं कारीगरों पर कर लगा दिया जाता था। एक अभिलेख⁴ में मिलता है कि प्रतीहार गवर्नर मथनदेव ने राजस्थान के लच्छुकेश्वर मन्दिर के लिये तेल एवं घी के प्रत्येक घड़े पर दो पलिका कर लगाया था। कुछ अन्य अभिलेखों⁵ में राजाओं द्वारा तैलिकों एवं मालाकारों को मन्दिरों को दान देने हेतु आदेशित करने के उल्लेख मिलते हैं। दक्षिण भारत के एक अभिलेख (1008 ई०) से यह संकेत मिलता है कि एक शीलाहार सरदार ने धोबियों, कुम्भकारों, मालियों और तैलिकों के एक-एक परिवार मत्तमयूर शैवाचार्यों की सेवा के लिये समर्पित कर दिया था।⁶ ऐसे शिल्पियों के व्यावसायिक क्रिया-कलाप का दायरा अवरुद्ध हो गया होगा। दक्षिण भारत में राजराज (985-1015 ई०) के कुछ अभिलेखों⁷ में तन्जौर मन्दिर से प्रतिबद्ध सेवकों— जिनमें शिल्पी भी शामिल थे— को भूमि की पैदावार के अलग-अलग अंश

-
1. जिल्द 2, पृ० 690-91; बी० एन० एस० यादव, अध्यक्षीय भाषण (सेक्शन 1), इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, बम्बई, 1980, पृ० 35.
 2. तैलिकों द्वारा प्रति (तेल पेरने के) कोल्हू एक निश्चित परिमाण में एक मन्दिर को तेल का दान करने का उल्लेख एक अभिलेख में मिलता है; एपि० इ०, 1.21, पंक्तियाँ 27-8, 30-1. प्रतीहारों के काल में अपनी-अपनी श्रेणियों की ओर से तैलिकों, ताम्बूलिकों, कल्लपालों एवं मालाकारों के प्रमुखों द्वारा मन्दिरों को दान दिये जाने के लिए द्रष्टव्य वही, 1.20, द्वितीय अभिलेख, पंक्तियाँ 11-20.
 3. उदाहरणार्थ, राजस्थान में प्राप्त एक अभिलेख (1086-87 ई०) में जाना नामक एक तैलिक कुल के पट्टकिल द्वारा शम्भु के एक मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है; एच० सी० रे, डिनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दन इंडिया, जिल्द 2, पृ० 875.
 4. एपि० इ०, 3.36; पंक्तियाँ 22-3. राम शरण शर्मा, इंडियन फ्यूडलिज्म, पृ० 104-5.
 5. भुवनेश्वर मन्दिर-लेख, जर्नल आफ उड़ीसा हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी, 1 एवं 7; एपि० इ०, जिल्द 1, पृ० 287 और आगे (मथुरा प्रशस्ति); बी० पी० मजूमदार, सोशियो-ईकोनॉमिक हिस्ट्री आफ नार्दन इंडिया, पृ० 110, 123.
 6. एपि० इ०, जिल्द 3, पृ० 296.
 7. हुल्श, साउथ इंडियन इस्क्रिप्शन्स, जिल्द 2, भाग 3, पृ० 259; उद्धृत द्वारा ए० के० कुमारस्वामी, दि इंडियन क्राफ्ट्समैन, पृ० 30.

अथवा भूमि के अलग-अलग भाग प्रदान करने के उल्लेख मिलते हैं। मन्दिर से प्रतिबद्ध शिल्पियों में कुम्भकार, ठठेरा, बड़ई, निरीक्षक स्वर्णकार, मणिकार, दर्जी आदि के उल्लेख हैं। भूमि की पैदावार का अंश या भूमि देने का मुख्य उद्देश्य शिल्पियों आदि की प्रतिबद्धता को स्थायी बनाना रहा होगा।

मिश्रित आबादी वाले ग्रामों में रहने वाले शिल्पियों के उल्लेख पहले के स्रोतों में भी मिलते हैं।¹ अमरकोश (2.10.9), जो गुप्त काल की स्थिति पर प्रकाश डालता है, में ग्रामतक्ष (ग्राम के बड़ई) को केवल ग्रामाधीन (ग्राम के अधीन) कहा गया है। पर वामन-जयादित्य की काशिका टीका² (7वीं शताब्दी) में उसे ग्राम से 'प्रतिबद्ध' 'कर्माजीवी' बताया गया है, जो 'स्वतन्त्र' नहीं था। इस प्रकार वह अपने शिल्प से ग्राम के निवासियों की तत्सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बाध्य था। जैन वैयाकरण शाकटायन (9वीं शताब्दी) ने उसे अस्वतन्त्र एवं प्रतिबद्ध बताने के साथ ही 'ग्रामभृत' (ग्राम द्वारा भरण-पोषण पाने वाला) भी बताया है।³ इस प्रकार ग्रामतक्ष अधीनता के सम्बन्धों में आबद्ध लगते हैं। यही स्थिति ग्राम से रहने वाले उससे प्रतिबद्ध अन्य शिल्पियों की भी रही होगी। इसका उल्लेख किया जा चुका है⁴ कि पतंजलि के महाभाष्य में ब्राह्मणग्राम में रहने वाले पाँच कारुकों (पंचकारुकी) को उसकी उद्योत⁵ टीका में कुलाल (कुम्भकार), कर्मर (लोहकार), वर्धकि, नापित एवं रजक बताया गया है। मिश्रित आबादी वाले अन्य ग्रामों में भी यही सब कारुक (शिल्पी एवं कारीगर) प्रायः रहते रहे होंगे। यदि किसी ग्राम में इनमें से कोई शिल्पी न रहता रहा होगा तो पास के ग्राम का शिल्पी उस ग्राम से भी प्रतिबद्ध हो जाता रहा होगा।

पूर्व मध्यकाल के कई धर्मशास्त्र ग्रन्थों में कृषकों के लिए खल-यज्ञ का विधान मिलता है।⁶ खलयज्ञ इस काल में कोई वैदिक यज्ञ नहीं था। बृहत्पराशर-संहिता⁷ में खलिहान (खल) में अनाज तैयार कर लेने के बाद उसी स्थल पर कृषक द्वारा अनाज की राशि में से राजा के भाग एवं ग्रामेश के देय को देने, देवता एवं

1 द्रष्टव्य ऊपर।

2 सम्पादक आर्येन्द्र शर्मा एवं अन्य, 5.4.95; ए० पी० ओझा, प्राचीन भारत में सामाजिक स्तरीकरण, पृ० 115, 309.

3 शाकटायन व्याकरण, सम्पादक शम्भुनाथ त्रिपाठी, 2.1.170.

4 द्रष्टव्य ऊपर।

5 वी० पी० लिमये, क्रिटिकल स्टडीज़ आन दि महाभाष्य, पृ० 67; उद्धृत द्वारा बी० एन० एस० यादव, अध्यक्षीय भाषण, इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1993, पृ० 32 पादटिप्पणी 6.

6 बी० एन० एस० यादव, पूर्वोद्धृत अध्यक्षीय भाषण, पृ० 28 और आगे।

7 धर्मशास्त्र संग्रहः, सम्पादक जीवानन्द विद्यासागर; स्मृति-सन्दर्भ (जिल्द 2) — में समाविष्ट बृहत्पराशर-संहिता की रचना पूर्व मध्यकाल के अन्तिम चरण या मध्यकाल के प्रारम्भ में हुयी होगी; पी० वी० काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जिल्द 1, भाग 1, पृ० 466. पर इसमें निहित परम्परायें पूर्व मध्यकाल में पहले से चली आ रही थीं।

ब्राह्मणों को दान करने, तथा ग्राम के कारुकों (शिल्पियों एवं कारीगरों) और सेवकों (चाण्डाल आदि) को (उनकी अंशभागिता के अनुसार) अनाज प्रदान करने की सारी क्रियाओं को खलयज्ञ के अन्तर्गत बताया गया है।¹ यह खलयज्ञ चारों वर्णों के कृषकों के लिए विहित किया गया है।²

इस प्रथा के प्रचलन का प्रमाण हमें पूर्व मध्यकाल की परम्पराओं पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ लेखपद्धति³ में मिलता है, जिसकी रचना गुजरात के क्षेत्र में हुयी थी। इसमें दिये गये एक माडल लेख में मिलता है कि एक राणा पंचाल क्षेत्र के कुछ ग्रामों का पट्टा छोटे स्तर के किसानों को देता है। इसमें उन किसानों को कहा जाता है कि वे राणा को सुनिश्चित देय प्रदान करें और पंचकारुकों को खलिहान की भूमि पर (खलके) अनाज-राशि से अलग-अलग अंश आबंटित करें। इन पाँच कोटि के कारुकों (शिल्पियों एवं कारीगरों) में से सूत्रधार (बढ़ई), लोहकार एवं कुम्भकार का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। अन्य दो कारुक, जैसा कि पहले देखा जा चुका है, नापित एवं रजक रहे होंगे, जो सेवा-शिल्प से सम्बन्धित थे।

शिल्पियों को उनके प्रत्येक कार्य के लिए मजदूरी न देकर उसके स्थान में हर फसल से मिलने वाली अनाज-राशि से खलिहान में उन्हें अलग-अलग अंश आबंटित करने की प्रथा⁴ पूर्व मध्यकाल के प्रथम चरण में रुद्ध एवं कृषि-प्रधान स्थानीय अर्थ-व्यवस्था में विकसित हुयी होगी, जिसमें बाजार एवं मुद्रा के माध्यम से विनिमय की भूमिका अत्यन्त न्यून हो गयी थी। बृहत्पराशर-संहिता में इस प्रथा का जितना स्पष्ट उल्लेख है उतना पहले के किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलता है। धीरे-धीरे यह प्रथा, जाति-प्रथा से संयुक्त होकर, बद्धमूल हो गयी। बाद के कालों में व्यापार के विकास, मुद्रा के अपेक्षाकृत अधिक प्रचलन एवं अर्थ-व्यवस्था में गतिशीलता

1. धर्मशास्त्र-संग्रहः, पृ० 115, पंक्तियाँ 9 और आगे; बी० एन० एस० यादव, पूर्वोद्धृत, पृ० 30. पर पूर्व मध्यकाल के कुछ अन्य धर्मशास्त्र ग्रन्थों में ग्राम के कारुकों एवं ग्राम-सेवकों को खलिहान की अनाज-राशि से दिये जाने वाले अंशों का उल्लेख खलयज्ञ के अन्तर्गत नहीं मिलता है। ऐसा लगता है कि कुछ लोग इस क्रिया को खलयज्ञ के घटक के रूप में नहीं मानते थे, पर बृहत्पराशर-संहिता में इसे, खलयज्ञ में समाविष्ट कर, धर्मशास्त्रीय प्रतिष्ठा प्रदान किया गया है। इसमें कारुकों को विवाह, बच्चे के जन्म, संक्रान्ति, ग्रहण (सूर्यग्रहण एवं चन्द्रग्रहण) के अवसरों पर भी दान देने का विधान मिलता है (धर्मशास्त्र-संग्रहः, पृ० 115)।

2. धर्मशास्त्र-संग्रहः, पृ० 115, पंक्ति 22.

3. लेखपद्धति, सम्पादक सी० डी० दलाल, पृ० 18 और आगे।

4. मीनाश्री यादव, एग्रिकल्चर ऐण्ड पेजेंट्स इन नार्दर्न इंडिया-फ़्राम सर्का 700 टु 1200 ए० डी० (हिन्दी में), इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि हेतु स्वीकृत शोध-प्रबन्ध, 1992, पृ० 175-76.

की प्रक्रिया के बावजूद गाँवों में इस प्रथा का प्रचलन कुछ हद तक बना रहा। शिल्पियों आदि द्वारा की गयी सेवाओं के बदले में उन्हें पैदावार के अंश प्रदान करने की प्रथा उस ग्रामीण सामाजार्थिक व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग रही है, जिसे बहुत से विद्वानों ने 20वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में जजमानी¹ व्यवस्था के रूप में पहचाना था और जिसका प्रचलन कुछ विभिन्नताओं के साथ भारत के एक बड़े भूभाग में था।

1 डब्ल्यू० एच० वाइज़र, दि हिन्दू जजमानी सिस्टम : वाइज़र के अनुसार जजमानी व्यवस्था में सामन्ती व्यवस्था के लक्षण नहीं मिलते हैं। पर टी० ओ० बीडेलमैन के अनुसार, इसमें सामन्ती लक्षण मिलते हैं : इसमें शिल्पी एवं अन्य कर्मकर अधीनता के सम्बन्धों में आबद्ध मिलते हैं-- टी० ओ० बीडेलमैन, ए कम्पैरिटिव अनैलिसिस आफ दि जजमानी सिस्टम, पृ० 6.

रोमिला थापर के अनुसार, जजमानी व्यवस्था की तरह की प्रथा पाणिनि (पाँचवी शताब्दी ई० पू०) एवं पतंजलि (द्वितीय शताब्दी ई० पू०) के कालों में भी प्रचलित रही होगी; वही, एन्शेंट इंडियन सोशल हिस्ट्री, पृ० 147. पर पाणिनि की अष्टाध्यायी एवं पतंजलि के उस पर महाभाष्य में इस अनुमान की पुष्टि के लिए कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता है।

धर्म के क्षेत्र में शिल्पी एवं कारीगर

जैसा कि पहले ही देखा जा चुका है, ऋग्वैदिक देवमण्डल में त्वष्टा एवं ऋभुस् (ऋभु, वाज एवं विभवं) की अवधारणाएँ कुशल शिल्पियों एवं कारीगरों के रूप में की गयी थीं।¹ ऋग्वेद में कई प्रकार के शिल्पियों के उल्लेख मिलते हैं। इनमें रथकार का एक महत्त्वपूर्ण स्थान था।² हिलेब्रांट³ के अनुसार, अनु नामक जाति रथकार वर्ग के निर्माण का आधार थी और यह जाति उन ऋभुओं की उपासक थी जो उत्कृष्ट रथ के निर्माता माने गये हैं। पर रथकार रथ बनाने वाले शिल्पकारों का समुदाय था : जाति के रूप में इनको मानने के प्रमाण बहुत कम हैं। कुछ विद्वान् ऋभुओं को सभी काष्ठ-शिल्प से सम्बन्धित शिल्पकारों का देवता मानते हैं।⁴ ऋग्वेद में त्वष्टा⁵ की अवधारणा मुख्यतः धातु से सम्बन्धित शिल्पकार के रूप में मिलती है, यद्यपि वह वैदिक काल में काष्ठ-शिल्प से भी सम्बन्धित किया गया था। त्वष्टा को शिल्पकारों- विशेष रूप से धातु-कर्मियों- का देवता मानते हुये उसकी तुलना होमर कालीन यूनान के हैफेस्टस (Haphaestus) से की गयी है, जो वहाँ लोहकारों एवं अन्य शिल्पियों का भी उपास्य-देवता था।⁶ पर इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता है कि केवल शिल्पी ही त्वष्टा एवं ऋभुस् की उपासना शिल्प-कौशल प्राप्त करने के उद्देश्य से करते थे। इस सन्दर्भ में यह मत⁷ भी मिलता है कि उत्तर वैदिक काल में शिल्पकारों एवं जनजातीय लोगों का उपास्य देव रुद्र था। इस मत की भी पुष्टि के लिए कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। उत्तर वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत शिल्पकारों को शूद्र वर्ण में स्थान दिया गया था। तैत्तिरीय संहिता (7.1.1.6) में मिलता है कि शूद्र वैदिक यज्ञ का

2. द्रष्टव्य ऊपर, अध्याय 1.

3. मैकडॉनल और कीथ, वै० इ० (हिन्दी अनुवाद), भाग 2, पृ० 227.

4. ब्रजदेव प्रसाद राय, दि लेटर वेदिक इकॉनमी, पृ० 284.

5. ऋग्वेद, 1.32.2; 1.85.9; 10.48.3; ए० ए० मैकडॉनल, वेदिक मिथॉलजी, पृ० 116.

6. ब्रजदेव प्रसाद राय, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 284.

7. रामशरण शर्मा, शू० ए० इ०, पृ० 82.

अनुष्ठान नहीं कर सकते थे, पर तैत्तिरीय ब्राह्मण (1.1.4) के अनुसार, रथकार, जो शिल्पी था, को वैदिक यज्ञ का अधिकार था।¹

प्राचीन भारत में छठी शताब्दी ई०पू० के वैदिक परम्परा के विरोधी धार्मिक एवं दार्शनिक आन्दोलन में महावीर, बुद्ध एवं अन्य विभूतियों के अतिरिक्त आजीविकों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।² इस काल में उनका धर्माचार्य मक्खलि गोसाल था, जिसका जन्म एक साधारण³ कुल में हुआ था। आजीविक सम्प्रदाय को सबसे अधिक समर्थन शिल्पियों और व्यापारियों के वर्गों से मिला, यद्यपि इसमें अन्य वर्गों के भी लोग थे।⁴ इस काल में आजीविक सम्प्रदाय के सबसे अधिक सामान्य अनुयायी सावत्थि (श्रावस्ती) में बताये गये हैं।⁵ श्रावस्ती के आस-पास के क्षेत्र में भी इस सम्प्रदाय के सामान्य अनुयायी थे। इसके अतिरिक्त अन्य स्थानों में भी उनके अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं।⁶ जैन ग्रन्थ भगवती सूत्र⁷ से ज्ञात होता है कि मक्खलि गोसाल को श्रावस्ती में 16 वर्ष तक हालाहला नामक एक स्त्री ने आश्रय प्रदान किया था। यह स्त्री कुम्भकार थी और आजीविक सम्प्रदाय की अनुयायी थी।

जैन ग्रन्थ उवासग-दसाओ⁸ से ज्ञात होता है कि श्रावस्ती के अतिरिक्त पोलासपुर⁹ नामक एक अन्य नगर भी आजीविक सम्प्रदाय का एक प्रारम्भिक केन्द्र था। इस नगर में रहने वाले सद्दालपुत्त नामक इस धर्म के एक सामान्य उपासक का वर्णन उक्त ग्रन्थ¹⁰ में मिलता है। हालाहला की भाँति सद्दालपुत्त भी कुम्भकार बताया

1. पी० वी० काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जिल्द 2, भाग 1, पृ० 34, 45.

2. एल० डी० बार्नेट का प्राक्कथन, ए० एल० बाशम, हिस्ट्री ऐण्ड डॉक्ट्रिन्स आफ दि आजीविकस्, पृ० xi.

3. वही।

4. ए० एल० बाशम, वही, पृ० 132.

5 एवं 6 वही, पृ० 132.

7 वही, पृ० 31, 32, 132.

8 उद्धृत द्वारा ए० एल० बाशम, वही, पृ० 115, 132.

9 हार्नले ने इसका समीकरण वैशाली से किया है, पर यह संदिग्ध लगता है; ए० एल० बाशम, वही, पृ० 133.

10. ए० एल० बाशम, वही, पृ० 132.

गया है। यह भी कहा गया है कि वह 500 कुम्भकार-कार्यशालाओं का स्वामी था, उसके पास एक करोड़ का सोना था और इसके अतिरिक्त एक करोड़ उसने सूद पर उधार दिया था।¹ ए० एल० बाशम ने ठीक ही कहा है कि यह वर्णन अतिरंजित है।² इसके आधार पर केवल यही लगता है कि सद्दालपुत्त एक समृद्ध कुम्भकार था, जो शिल्पी होने के साथ ही अपने उत्पाद का व्यापारी तथा महाजन भी था।

कुछ जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों के साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि आजीविक सम्प्रदाय के सामान्य अनुयायी गंगा घाटी के सभी बड़े नगरों में थे। इनमें सभी वर्गों के लोग थे और उदीयमान वणिक वर्ग के लोग भी इनमें शामिल थे।³ पर इस सम्प्रदाय का विशेष सम्बन्ध कुम्भकारों से लगता है। इसके अनुयायियों में हालाहला एवं सद्दालपुत्त के विशेष उल्लेख मिलते हैं, जो कुम्भकार समुदाय के थे।⁴ गोसाल ने हालाहला की कुम्भकार कार्यशाला को अपना मुख्यालय बनाया था, और मिट्टी के बर्तनों के उपयोग का आजीविक-तपस्या की क्रियाओं में विशेष महत्त्व था।⁵ पर वायु पुराण के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि कुम्भकारों के अतिरिक्त कुछ अन्य शिल्पि-समुदाय (कारुशिल्पिजनाः) भी इस धार्मिक सम्प्रदाय से जुड़े थे।⁶

इस पुराण⁷ में आजीविकों की धार्मिक क्रियाओं का विकृत वर्णन करते हुए उन्हें अधार्मिक एवं अनुचित रूप से धन-संग्रह करने वाला तथा उनके देवताओं को पिशाच कहा गया है। इसी क्रम में उन पर वर्णाश्रम-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करने का आरोप भी लगाया गया है⁸ : यह स्पष्ट है कि वायु पुराण, जिसका नया संस्करण गुप्त काल में हुआ, यहाँ एक पहले से चली आ रही परम्परा पर प्रकाश डालता है।

1 एवं 2 ए० एल० बाशम, वही, पृ० 132.

3. ए० एल० बाशम, वही, पृ० 133.

4 एवं 5 वही, पृ० 134.

6. अधार्मिका जनास्ते वै आजीवा विहिताः सुरैः।

वर्णाश्रमाः संकरिकाः कारुशिल्पिजनास्तथा॥ - वायु पुराण, 8.279.

ए० एल० बाशम का यह मत समीचीन लगता है कि यहाँ 'आजीवा' शब्द आजीविकों के लिये ही प्रयुक्त हुआ है : पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 162-63, 182-83. हलायुध के अधिधान-रत्नमाला (2.189-90), यादव प्रकाश के वैजयन्ती (5.4.16) आदि शब्द कोशों से भी यही ज्ञात होता है।

7 वायु पुराण, 8.279-82.

8. वर्णाश्रमाः संकरिकाः- वायु पुराण, 8.279.

मकखलि गोसाल के काल (छठी-पाँचवी शताब्दी ई०पू०) तक वर्ण-व्यवस्था के ऊँच-नीच के अनुक्रम के आधार पर निम्नतम शूद्रों, जिनमें शिल्पियों के सभी समुदाय शामिल थे, पर आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक निर्योग्यताएँ काफी हद तक स्थापित हो चुकी थीं।¹ प्राचीन बौद्ध पालि ग्रन्थों के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि कुम्भकार, जो इस सम्प्रदाय से विशेष रूप से जुड़े थे, शूद्र शिल्पियों के अन्तर्गत भी हीन शिल्प (हीन सिप्प)² से सम्बन्धित माने जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इन परिस्थितियों में, प्रतिक्रिया के रूप में, समृद्ध शिल्पी वर्ण-व्यवस्था द्वारा विहित अपने कर्तव्यों एवं अधिकारों के दायरे का अतिक्रमण और उसके अनुक्रम की अवहेलना करने लगे थे। इसी प्रतिक्रिया के क्रम में ही उन्होंने उदार सामाजिक दृष्टिकोण वाले धर्मों का— जिनमें से आजीविक सम्प्रदाय एक था— अवलम्बन किया होगा।

आजीविक धर्म में नियतिवाद³ का प्राधान्य है। पर इसमें पुत्रभद्र (पूर्णभद्र), मणिभद्र (मणिभद्र) आदि देवताओं की पूजा का भी विधान मिलता है।⁴ आजीविकों ने वर्णाश्रम-व्यवस्था से हट कर समाज को अपने ढंग से 6 वर्गों में विभक्त किया था।⁵ सबसे निम्न वर्ग हिंसा एवं क्रूर कर्मों में लिप्त लोगों (शिकारियों, चिड़िया मारने वालों, मछली मारने वालों, चोरों आदि) का बताया गया है। इसके बाद छद्म भिक्षुओं का वर्ग था। तीसरा वर्ग एक ही वस्त्र धारण करने वाले भिक्षुओं (निगण्ठों) का बताया गया है। चौथे वर्ग में सभी समुदायों के सामान्य उपासक रखे गये हैं। पाँचवा वर्ग आजीविक तपस्वियों एवं तपस्विनियों का बताया गया है, और सर्वोच्च छठे वर्ग में मकखलि गोसाल आदि कुछ धर्माचार्यों को ही रखा गया है।

मौर्य काल के बाद आजीविक सम्प्रदाय का ह्रास होने लगा। पर प्राचीन भारत में इनकी परम्परा लुप्त नहीं हुयी। वराहमिहिर (पाँचवी-छठी शताब्दी) ने अपने बृहज्जातक (15.1) में सात प्रकार के तपस्वियों का उल्लेख किया है : इनमें से शाक्य (बौद्ध) एवं निर्गन्थ (जैन) तपस्वियों के साथ आजीविक तपस्वियों का भी

1. रामशरण शर्मा, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 152-53.

2. द्रष्टव्य ऊपर।

3. ए० एल० बाशम, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, अध्याय 12.

4. वही, पृ० 272-73. पूर्णभद्र एवं मणिभद्र यक्ष थे, जो गंगा की घाटी में काफी लोकप्रिय थे।

5. बुद्धघोस (5वीं शताब्दी) की दीघ निकाय पर सुमंगल-विलासिनी टीका, 1, 162; ए० एल० बाशम, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 243-44.

उल्लेख है। कालान्तर में उत्तर भारत में आजीविकों की परम्परा लुप्तप्राय¹ हो गयी। पर दक्षिण भारत में वह 14वीं शताब्दी तक चली रही।² इस सम्प्रदाय का प्रभाव अन्य धर्मों पर भी पड़ा।³

छठी शताब्दी ई०पू० के धार्मिक एवं दार्शनिक आन्दोलन में वैदिक परम्परा के विरोधी जिन धर्मों का उदय हुआ उनमें बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म का विशेष स्थान है। शिल्पियों एवं कारीगरों द्वारा बौद्ध धर्म का अवलम्बन किये जाने के विषय में प्रारम्भिक जानकारी प्राचीन बौद्ध पालि-ग्रन्थों से मिलती है। इन प्राचीन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि बुद्ध के समय में बौद्ध धर्म के अनुयायियों में खत्तिय (क्षत्रिय), ब्राह्मण एवं समृद्ध गृहपति अधिक थे।⁴ निम्न कुलों के अनुयायियों— जिनमें शिल्पी भी थे— के नाम इन ग्रन्थों में अपेक्षाकृत कम मिलते हैं⁵, पर उनमें से कुछ का स्थान महत्त्वपूर्ण था। सामाजिक स्तरीकरण के प्रति बुद्ध का दृष्टिकोण काफी उदार था। उन्होंने इस धर्मशास्त्रीय व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया कि शूद्रों का धर्म सामाजिक अनुक्रम में अपने से ऊपर के वर्णों के लोगों (ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य) की शुश्रूषा करना है।⁶ जैसा कि पहले देखा जा चुका है, यह विचार बौद्ध परम्परा में बाद तक चलता रहा।⁷ ऐसी स्थिति में शिल्पी, जो शूद्र वर्ण के अन्तर्गत माने जाने के कारण कई प्रकार की निर्योग्यताओं⁸ के पात्र समझे जाते थे, बौद्ध धर्म के प्रति भी विशेष रूप से आकर्षित हुये होंगे।

बुद्ध के सर्वप्रमुख अनुयायियों में उपालि का नाम आता है जो नापित होने के कारण निम्न (निच)⁹ कुल का बताया गया है। वह कपिलवस्तु के एक नापित-परिवार का था और उसने शाक्य राजकुमारों की सेवा ग्रहण कर ली थी। इस प्रकार वह सेवा-शिल्प से सम्बन्धित था। बुद्ध के पास जब शाक्य राजकुमार और उपालि संघ में शामिल होने हेतु दीक्षा लेने गये तो उन्होंने शाक्यों के कुलीनता के अभिमान को तोड़ने के लिए सबसे पहले उपालि को दीक्षित किया और फिर इसके बाद शाक्यों को।¹⁰ संघ में शामिल होने के बाद उपालि ने विनय (मठ-विषयक अनुशासन के नियमों) में पाण्डित्य प्राप्त कर लिया। इसका उल्लेख मिलता है कि बुद्ध ने स्वयं

1. ए० एल० बाशम, वही, पृ० 286.

2. वही, पृ० 187.

3. वही, पृ० 279 और आगे।

4 एवं 5. उमा चक्रवर्ती, दि सोशल डाइमेन्शन्स आफ अर्ली बुद्धिज्म, पृ० 132, 140.

6. उमा चक्रवर्ती, वही, पृ० 99-100.

7 एवं 8. द्रष्टव्य ऊपर।

9 एवं 10. जी० पी० मल्लसेकर, डिक्शनरी आफ पालि प्रापर नेम्स, जिल्द 1, पृ० 408; उमा चक्रवर्ती, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 130.

उपालि को विनय की शिक्षा दी थी। संघ की सभा में बुद्ध ने उपालि को विनय के विद्वानों में सबसे अधिक प्रवीण घोषित किया था।¹ उसे मठ-विषयक अनुशासन के सभी नियमों की जानकारी थी। विनय के नियमों पर उपालि के कुछ निर्णयों की सराहना स्वयं बुद्ध ने की थी।² बुद्ध के समय में ही भिक्षु लोग उपालि से विनय की शिक्षा प्राप्त करना गौरव की बात समझते थे।³ उपालि की राजगृह की प्रथम बौद्ध महासंगीति⁴ में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। इसमें जिस प्रकार आनन्द ने धम्म-सम्बन्धी प्रश्नों का समाधान किया उसी प्रकार उपालि ने विनय-सम्बन्धी प्रश्नों पर निर्णय दिया। इस प्रकार उपालि ने महाकस्सप को संघ के अनुशासन-सम्बन्धी नियमों को विनय पिटक के रूप में संहिताबद्ध करने में सहायता दी।

बुद्ध के सर्वप्रमुख सामान्य शिष्यों में, जो उपासक थे, चुन्द के नाम का विशेष महत्त्व मिलता है। चुन्द पावा के रहने वाले बताये गये हैं, जो धातु का काम करने वाले शिल्पकार (कम्मार-पुत्त) थे। उनके द्वारा बुद्ध के लिए अम्बवन (आम्र-वन) में एक विहार बनवाने का भी उल्लेख मिलता है। बुद्ध कुशीनारा को जाते समय रास्ते में पावा पहुँच कर चुन्द के अम्बवन में ठहरे थे। चुन्द उनके पास गया और उसने बुद्ध एवं भिक्षुओं को दूसरे दिन के भोजन के लिये आमन्त्रित किया। भिक्षुओं के साथ बुद्ध ने उसके यहाँ जाकर भोजन किया। उस भोजन में मीठे चावल एवं रोटी के साथ सूकरमद्व भी था। भोजन के समय बुद्ध ने आज्ञा दी कि सूकरमद्व केवल उन्हें ही दिया जाय और जो शेष हो उसे गड्ढे में गाड़ दिया जाय। यही बुद्ध का अन्तिम भोजन था, जिसके बाद उन्हें अतिसार हो गया। बुद्ध ने परिनिर्वाण के पहले आनन्द को आदेश दिया था कि वे चुन्द के पास जाकर यह संदेश दें कि वह अपने को दोषी समझकर किसी तरह का पश्चाताप न करे, क्योंकि उसने उन्हें (बुद्ध को) अन्तिम भोजन प्रदान कर सर्वाधिक पुण्य एवं हर्ष का कार्य किया है।⁵

विनय पिटक⁶ में धनिय नामक एक कुम्भकार का नाम मिलता है, जो बौद्ध भिक्षु हो गया था। उसने अपने लिए एक घास एवं लकड़ी का घर बनाया था, जो टूट गया। फिर उसने राजकीय गोदाम के रक्षक से

1. अंगुत्तर निकाय, 1, पृ० 25.

2. मललसेकर, डिक्शनरी आफ पालि प्रापर नेम्स, जिल्द 1, पृ० 408.

3. वही, पृ० 409.

4. वही, पृ० 408; उमा चक्रवर्ती, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 131.

5. मललसेकर, डिक्शनरी आफ पालि प्रापर नेम्स, जिल्द 1, पृ० 876-77.

6. विनय पिटक, 3, पृ० 41-42.; बागले, सोसाइटी एट दि टाइम आफ दि बुद्ध, पृ० 138, 186 (पादटिप्पणी 32)।

लकड़ी माँग कर दूसरा घर बनाया। राजा उससे नाराज हो गया, लेकिन भिक्षु होने के कारण उसे कोई दण्ड नहीं दिया गया।¹ एक अन्य कुम्भकार— घटिकार कुम्भकार— का भी उल्लेख मिलता है जो कस्सप बुद्ध का उपासक बताया गया है।² वह गरीब होने के कारण भिक्षुओं को केवल दाल-भात का ही भोजन दे सकता था। पर कस्सप बुद्ध का उसके प्रति बड़ा स्नेह था। राजा ने उन्हें अपने निवास पर वर्षावास के लिए निमन्त्रण दिया था, पर उन्होंने उसे अस्वीकार कर एतदर्थ उस कुम्भकार के आग्रह को स्वीकार किया। उसके सम्बन्ध में यह भी संकेत मिलता है कि वह जोतिपाल नामक एक ब्राह्मण युवक को कस्सप बुद्ध का धर्म ग्रहण कराना चाहता था। मज्झिम निकाय³ में मिलता है कि बुद्ध एक बार एक कुम्भकार— जिसे भग्गव कुम्भकार कहा गया है— के भी घर पर रुके थे। इस प्रकार कुम्भकारों के आजीविक सम्प्रदाय के अतिरिक्त बौद्ध धर्म के प्रति भी आकर्षित होने के साक्ष्य मिलते हैं।

शिल्पियों के बौद्ध धर्म से प्रभावित होने के अभिलेखीय साक्ष्य मौर्योत्तर काल के बहुत से अभिलेखों में मिलते हैं, जिनमें उनके द्वारा दिये गये दानों के उल्लेख हैं।⁴ जैन धर्म का दृष्टिकोण भी निम्न वर्गों के प्रति उदार था। इस काल के कुछ अभिलेखों से पता चलता है कि कुछ शिल्पियों ने इस धर्म से भी प्रभावित होकर दान दिये।⁵

पौराणिक धर्म का विकास एवं प्रचार-प्रसार गुप्त काल और विशेष रूप से गुप्तोत्तर काल में हुआ।⁶ समन्वय-प्रधान पौराणिक धार्मिक परम्परा में उत्सव, दान, व्रत, तीर्थ-यात्रा, मूर्ति-पूजा, मन्दिर, नक्षत्र-पूजा आदि धर्म के प्रधान अंग माने गये हैं। इस परम्परा में भक्ति का विशेष महत्त्व मिलता है। पौराणिक धर्म के अन्तर्गत वैष्णव, शैव, शाक्त एवं सौर⁷ धाराएँ प्रमुख हैं। इसकी विभिन्न धाराओं में वर्ण-जाति-व्यवस्था के प्रति

1. विनय पिटक, 1, पृ० 41-42.; वागले, वही, पृ० 139, 186 (पादटिप्पणी 39)।

2. मज्झिम निकाय, 2, पृ० 48-53.; वागले, वही, पृ० 138, 186 (पादटिप्पणी 33)।

3. मज्झिम निकाय, 3, पृ० 237-38.; वागले, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 138-139.

4. द्रष्टव्य ऊपर, अध्याय 1.

5. द्रष्टव्य ऊपर, अध्याय 1.

6. हाजरा, स्टडीज इन दि पुराणिक रेकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स ऐण्ड कस्टम्स, अध्याय 2-4.

7. सूर्य की पूजा करने एवं सूर्य-मन्दिर बनाने का अधिकार चारों वर्णों के लोगों को था; साम्ब पुराण, अनुवादक विनोद चन्द्र श्रीवास्तव, पृ० 96-97, 131.

उदार¹ दृष्टिकोण मिलता है और इनमें शूद्रों— जिनमें शिल्पकार² भी थे— के धार्मिक अधिकारों को बढ़ाया गया। विशेष रूप से, वैष्णव धर्म में धर्म का मंच चारों वर्णों के लोगों के अतिरिक्त जनजातियों (किरात, पुलिन्द आदि) एवं विदेशियों (यवन, हूण आदि) को भी प्रदान कर दिया गया।³

शासक वर्ग में वैष्णव धर्म एवं कुछ हद तक शैव धर्म के कई अनुयायी गुप्त काल में मिलते हैं।⁴ इनका प्रभाव निम्न वर्गों के लोगों पर भी रहा होगा; पर इसके अधिक प्रमाण नहीं मिलते हैं।⁵ तथापि इस सम्बन्ध में कुछ साक्ष्य महत्वपूर्ण हैं। वैशाली में दो कुलिकों (शिल्पि-श्रेणियों के प्रमुखों) के हरि⁶ नाम मिलते हैं। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वहाँ के शिल्पी वैष्णव धर्म से प्रभावित रहे होंगे। यही स्थिति कुछ अन्य स्थानों पर भी रही होगी। पर अन्य धर्मों के प्रति भी शिल्पी एवं कारीगर आकर्षित हुये। शिल्पियों एवं कारीगरों द्वारा मूर्ति स्थापित करने एवं मन्दिर-निर्माण कराने के साक्ष्य अधिक नहीं मिलते हैं। तथापि वायु पुराण की परिशिष्ट में मिलने वाली एक कथा में मङ्ख नामक एक नापित द्वारा वाराणसी में गणेश क्षेमक की मूर्ति स्थापित करने का उल्लेख प्राप्त होता है।⁷ मन्दसौर⁸ से प्राप्त एक अभिलेख (पाँचवी शताब्दी) से ज्ञात होता है कि

1. सिद्धेश्वरी नारायण राय, पौराणिक धर्म एवं समाज, पृ० 180.

किन्तु सभी पुराणों में उदार दृष्टिकोण समान रूप में नहीं मिलता है। उदाहरणार्थ, भागवत पुराण (श्रीमद्भागवत महापुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर संस्करण, द्वितीय खण्ड, माहात्म्य, 3.15-16, पृ० 988) में तो ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों के साथ ही शूद्रों को भी इस पुराण के श्रवण एवं स्वाध्याय का अधिकार प्रदान किया गया है। पर शाक्त पुराण श्रीमद् देवी भागवत (12.14 24) में कहा गया है कि शूद्र एवं स्त्री इस पुराण को पढ़ नहीं सकते, केवल सुन सकते हैं। बंगाल में रचित बृहद्धर्मपुराण (12वीं शताब्दी के बहुत बाद का नहीं) में शूद्रों के पुराण पढ़ने पर प्रतिबन्ध के साथ यह भी मिलता है कि केवल आपत्ति-काल में ही ब्राह्मण उन्हें पुराण सुना सकता है (हाजरा, उद्धृत द्वारा रमेश चन्द्र मजूमदार, हिस्ट्री आफ एन्शेंट बंगाल, पृ० 417, 439)। इस प्रकार पौराणिक परम्परा के अन्तर्गत एक अनुदार धारा का भी कालान्तर में उदय हुआ।

2. शाक्त पुराण देवी भागवत में नवरात्र के अवसर पर, कुमारी-पूजन के सन्दर्भ में, ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों एवं कारुओं (शिल्पियों) के लिए अलग-अलग वर्गों की कुमारियों की पूजा का विधान मिलता है, वही, 3.27.6-7.

3. भागवत पुराण, 2.4.18.

4 एवं 5. राम शरण शर्मा, शू० ए० इ०, पृ० 309.

6. के० जी० गोस्वामी, इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, जिल्द 31, पृ० 125.

7. डी० आर० पाटिल, कल्चरल हिस्ट्री फ्राम दि वायु पुराण, पृ० 38.

8. का० इ० इ०, जिल्द 3, अभिलेख संख्या 18, पृ० 80-85.

पट्टवायों (रेशम के बुनकरों) की एक श्रेणि ने सूर्य का एक मन्दिर बनवाया था और फिर बाद में उसकी मरम्मत भी करवायी थी। गुप्तोत्तर काल में राजाओं, सामन्तों, व्यापारियों एवं अन्य समृद्ध लोगों ने अनेक मन्दिरों का निर्माण करवाया। राजस्थान के एक अभिलेख¹ (1086-87 ई०) में मिलता है कि तैलिक परिवार से सम्बन्धित एक पट्टकिल ने भी शम्भु का एक मन्दिर बनवाया था।

गुप्त काल एवं गुप्तोत्तर काल में शूद्रों— जिसमें शिल्पी एवं कारीगर भी थे— की धार्मिक स्थिति में उत्कर्ष का महत्त्वपूर्ण प्रमाण उन्हें धार्मिक मूर्तियाँ बनाने का अधिकार प्रदान किये जाने के विधान में मिलता है।² एक वैष्णव ग्रन्थ हयशीर्ष पांचरात्र के अनुसार सभी जातियों के लोग पूजा के लिए मूर्तियों का निर्माण कर सकते थे।³ पर वराहमिहिर (5वीं-6वीं शताब्दी) की बृहत्संहिता (58.5,6) में विभिन्न वर्णों के लिये प्रतिमा-निर्माणार्थ अलग-अलग प्रकार की लकड़ियों के प्रयोग का विधान मिलता है। गुप्तोत्तर काल के विष्णु-धर्मोत्तर पुराण⁴ में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के लिये क्रमशः श्वेत, लाल, पीली एवं काली लकड़ियाँ मूर्तियों एवं मन्दिरों के निर्माण हेतु बतायी गयी हैं। पर बृहन्नारदीय पुराण⁵ (750-900 ई०)— जो बंगाल एवं आस-पास के क्षेत्रों की स्थिति का द्योतक है— में मिलता है कि शूद्र द्वारा पूजित या स्पर्श किए गये लिंग या विष्णु की मूर्ति को जो नमस्कार करता है वह महान पाप एवं दुःख का भागी होता है। यह दृष्टिकोण सामाजिक अनुक्रम में ऊँच-नीच की बढ़ती भावना का द्योतक है।

पूर्व मध्य काल में सिद्धों द्वारा चलाये गये सहजयान आन्दोलन का काफी धार्मिक एवं सामाजिक महत्त्व था। लुई रेनो⁶ के अनुसार इसका स्वरूप लोकतांत्रिक था और इसमें जाति एवं सम्प्रदाय के आधार पर भेद-भाव

1. एच० सी० रे, डिनैस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया, जिल्द 2, पृ० 875.

2 एवं 3. राम शरण शर्मा, शू० ए० इ०, पृ० 302.

4. वही, 3.89.12. इस पुराण में इन्हीं चारों रंगों के पत्थरों के प्रयोग का विधान भी चारों वर्णों के लिए उक्त क्रम में मिलता है; वही, 3.90.2; राम शरण शर्मा, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 302.

5. बृहन्नारदीय पुराण, 14.54, 55; हाजरा, स्टडीज़ इन दि उपपुराणस्, जिल्द 1, पृ० 324.

6. रिलिजिन्स् आफ एन्शेंट इंडिया, पृ० 87.

नहीं किया जाता था।¹ सिद्धों की परम्परा के प्रवर्तक सिद्ध सरहपाद माने जाते हैं, जो ब्राह्मण थे। राहुल सांकृत्यायन² के अनुसार, सिद्धों के धार्मिक आन्दोलन का काल नवीं से बारहवीं शताब्दी तक का था। पर पी० सी० बागची³ सिद्धों-- जो परम्परा के अनुसार 84 माने जाते हैं-- का काल दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक मानते हैं। चौरासी सिद्धों की तालिका⁴ में जन्मना 15 ब्राह्मण, 4 क्षत्रिय, 6 राजकुमार, 1 राजकुमारी, 1 वैश्य, 2 वणिक्, 1 गृहपति, 1 गृहपति-कन्या, 2 कायस्थ, 19 शूद्र, 1 मल्लुआ, 1 लकड़हारा, 1 डोम, 1 कहार, 7 या 8 (अलग-अलग शिल्पि-जातियों से सम्बन्धित) शिल्पी, एवं 1 चित्रकार-कुलज गिनाये गये हैं। इसके अतिरिक्त 3 पूर्व राजा, 1 पूर्व गृहदासी एवं 1 चिड़ीमार जाति में उत्पन्न भी इस तालिका में सिद्धों के रूप में मिलते हैं। ये सिद्धाचार्य भारत के विभिन्न क्षेत्रों-- मगध, गौड देश, कांची, उड़ीसा, पश्चिमी भारत, कर्नाटक, बघेलखण्ड आदि से सम्बन्धित थे।⁵ चौरासी सिद्धों की तालिका में कई सिद्ध ऐसे भी हैं जिनके बारे में इसका उल्लेख नहीं है कि वे अमुक वर्ण, जाति या समुदाय में उत्पन्न हुये थे। पर यह स्पष्ट है कि सिद्धों की परम्परा में समाज के निम्न वर्गों एवं समुदायों से उद्भूत लोगों का प्राधान्य था और उनमें से सात या आठ शिल्पियों के विभिन्न समुदायों से थे।⁶ शिल्पि-समुदायों में उत्पन्न सिद्धाचार्य निम्नवत् थे :

- (1) तन्तिपा - तेंतवा (तन्तुवाय) जाति में उत्पन्न।
- (2) चमारिपा - चर्मकार जाति में उत्पन्न।
- (3) धोम्बिपा - धोबी जाति में उत्पन्न।
- (4) कर्मार (कम्परि) पा - लोहार जाति में उत्पन्न।
- (5) कंताली (कंथाली) पा - दर्जी जाति में उत्पन्न।
- (6) पनह (उपानह) पा - चर्मकार जाति में उत्पन्न।

1. रिलिजन्स् आफ एन्शेंट इंडिया, पृ० 87.

2. पुरातत्त्व निबन्धावली, पृ० 160.

3. कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया, जिल्द IV, सम्पादक एच० भट्टाचार्य, पृ० 276.

4. राहुल सांकृत्यायन, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 148 और आगे।

5. राहुल सांकृत्यायन, वही, पृ० 148 और आगे; बुद्ध प्रकाश, ऐस्पेक्ट्स आफ इंडियन हिस्ट्री ऐण्ड सिविलाइजेशन, पृ० 270.

6. बुद्ध प्रकाश के अनुसार भी सिद्ध-परम्परा में शिल्पकार एवं शूद्र मुख्य रूप से आते हैं : वही, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 270.

(7) गुण्डरिपा/गुण्डरीपाद - कर्मकार कुल में उत्पन्न।

(8) तंधेपा (तंतैपा) - तन्तुवाय (?) जाति में उत्पन्न।

उपर्युक्त तालिका में सिद्ध गुण्डरिपा¹ को चिड़ीमार जाति में उत्पन्न बताया गया है। पर राहुल सांकृत्यायन² ने साक्ष्यों का परीक्षण कर गुण्डरिपा (गुण्डरीपाद) को कर्मकार कुल से सम्बन्धित माना है : इस प्रकार ये किसी कारीगर समुदाय में उत्पन्न हुये होंगे। इसी प्रकार इस तालिका में 33वें सिद्ध तंधेपा (तंतैपा) को शूद्र कुल में उत्पन्न बताया गया है।³ पर तंतैपा शूद्र वर्ण के अन्तर्गत तन्तुवाय (तंतैवा) जाति से सम्बन्धित किये जा सकते हैं।

सिद्ध तन्तिपा⁴ का जन्म मालव देश के अवन्तिनगर (उज्जैन) में एक तंतैवा (तन्तुवाय) के घर हुआ था। घर में रहते ही ये सिद्धचर्या के प्रति आकर्षित होने लगे। इन्होंने सिद्ध जालन्धरपाद की शिष्यता ग्रहण की। सिद्ध कण्हापा से भी इन्होंने उपदेश लिया था। पुरानी मालवी या मगही में लिखा गया इनका एक ग्रन्थ “चतुर्योग भावना” तन्-जूर नामक तिब्बती ग्रन्थ के अन्तर्गत मिलता है। एक गीत, जो सम्भवतः तन्तिपा का ही है, राहुल सांकृत्यायन द्वारा पुरातत्त्व निबन्धावली⁵ में उद्धृत किया गया है। गुण्डरीपाद⁶ डिसुनगर देश में एक कर्मकार कुल में उत्पन्न हुये थे। ये सिद्ध लीलापा के शिष्य बने। इनके शिष्य धर्मपाद थे, जिनके शिष्य सिद्ध हालिपाद बताये गये हैं। गुण्डरीपाद की एक गीति चर्यागीतों में मिलती है।⁷ सिद्ध चमारिपा⁸ विष्णुनगर (पूर्व देश) के एक चर्मकार परिवार में पैदा हुए थे। लोक-भाषा में लिखे गये इनके एक काव्य (प्रज्ञोपायविनिश्चय-समुदय) का अनुवाद तन्-जूर में मिलता है।⁹ सिद्धाचार्य धोम्बिपा¹⁰ सालिपुत्र (?) के एक धोबी परिवार से थे। सिद्ध कर्मार

1. राहुल सांकृत्यायन, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 152, सं० 55.

2. वही, पृ० 186, सं० 13 (55).

3. वही, पृ० 150, सं० 33. इस तालिका में 13वें सिद्ध तंतैपा को भी तन्तुवाय कुल में जन्मा बताया गया है; वही, पृ० 149, सं० 13, पृ० 191, सं० 16.

4. राहुल सांकृत्यायन, वही, पृ० 191.

5. वही।

6. वही, पृ० 186.

7. वही, पृ० 186-87.

8. वही, पृ० 149.

9. वही, पृ० 200.

10. वही, पृ० 150.

(कम्परि) पा¹ उसी क्षेत्र के एक लोहार परिवार में पैदा हुये थे : लोक-भाषा में लिखा गया इनका ग्रन्थ सोमसूर्यबन्धनोपाय भी तन्-जूर में अनुवादित है।² कंताली (कंथाली) पा³ मणिधर (मैहर) के एक धोबी परिवार से थे, जो सिद्धाचार्य कण्ठपा के शिष्य थे। पनह (उपानह) पा⁴ सन्धोनगर (?) के एक चर्मकार परिवार में पैदा हुये थे।

सरहपाद को सिद्धों का आदि पुरुष माना जाता है।⁵ राहुल सांकृत्यायन के अनुसार, वे पाल नरेश धर्मपाल (769-809 ई०) के समकालीन लगते हैं।⁶ पूर्व दिशा में राजी (?) नामक नगर के एक ब्राह्मण कुल में उनका जन्म हुआ था।⁷ भिक्षु होकर वे नालन्दा में भी कई वर्षों तक रहे। बाद में वे मन्त्र-तन्त्र की ओर आकर्षित हुए और एक बाण (शर = सर) बनाने वाले की कन्या को महामुद्रा (सहचरी योगिनी) बनाकर किसी जंगल में रहने लगे।⁸ वहाँ वह भी बाण (शर = सर) बनाया करते थे और इसी कारण से उनका नाम सरह (सरहपाद) पड़ गया।⁹ इस प्रकार सिद्ध-परम्परा के आदि सिद्धाचार्य सरहपाद भी एक कारुक-कर्म (बाण बनाने की कारीगरी) से सम्बन्धित थे। उनके बहुत से ग्रन्थों के अनुवाद तिब्बत की भोटिया भाषा के तन्-जूर नामक ग्रन्थ

1 वही, पृ० 151.

2 वही, पृ० 200.

3 वही, पृ० 153.

4 वही, पृ० 154.

5 एवं 6. वही, पृ० 155.

7 वही, पृ० 168.

8 वही।

9 वही।

में मिलते हैं। इनमें से 16 ग्रन्थ लोक-भाषा मगही से भोटिया में अनूदित किये गये हैं।¹ सरहपाद के नालन्दा से सम्बन्धित होने के कारण लोक-भाषा में लिखे ग्रन्थों की भाषा को राहुल सांकृत्यायन² ने मगही माना है। अन्य सिद्धाचार्यों ने भी इसी लोक-भाषा को कविता की भाषा बनाया।³

सिद्धों ने ब्राह्मणों, बौद्धों, जैनों, पाशुपतों आदि की आलोचना⁴ की तथा पारम्परिक सामाजिक व्यवस्था की ऊँच-नीच के अनुक्रम वाली असमानता का विरोध किया।⁵ उन्होंने अत्यधिक परलोक-परायणता, कर्मकाण्ड, तीर्थ, व्रत, मूर्ति-पूजा, प्रार्थना, मन्त्र-तन्त्र एवं तपस्या को भी नकार दिया।⁶ उनके अनुसार आध्यात्मिक मोक्ष गृहस्थ जीवन में रहते हुये ही अनासक्ति एवं मन के नियन्त्रण की साधना से मिल सकता है।⁷ इस प्रकार सिद्धों ने भोग में योग के आदर्श की शिक्षा दी। उन्होंने दानशीलता एवं लोक-कल्याण पर भी विशेष बल दिया है।⁸ सामान्य लोगों के हित में उन्होंने, उनकी अपभ्रंश भाषा के माध्यम से, उपदेश दिया।⁹

शाक्त-तान्त्रिक धाराओं की भी पूर्व मध्य काल के धार्मिक जीवन में एक स्पष्ट भूमिका थी। तान्त्रिक धर्म निम्न जातियों एवं व्यावसायिक समुदायों से विशेष रूप से सम्बन्धित था।¹⁰ शिल्पकारों एवं कारीगरों के भी इस धर्म से सम्बन्धित होने के प्रमाण मिलते हैं। कुब्जिका तन्त्र की उत्पत्ति कुम्भकारों के समुदाय में ही मानी

1 वही, पृ० 168.

2 एवं 3 वही, पृ० 167.

4 एवं 5. सरहपाद का दोहाकोष, सम्पादक एवं अनुवादक राहुल सांकृत्यायन, पटना, 1957, भूमिका, पृ० 26; बी० एन० एस० यादव, सो० क० ना० ई०, पृ० 381.

6 दोहाकोष, पृ० 25, 26, 27, 34.

7. वही, पृ० 29.

8. वही, पृ० 31.

9. वही, पृ० 8.

10. बी० एन० एस० यादव, सो० क० ना० ई०, पृ० 379.

गयी है।¹ तन्त्र-ग्रन्थों में जाति-व्यवस्था की उपेक्षा और वैदिक पद्धति की आलोचना मिलती हैं। गौमतीय तन्त्र के अनुसार, “तन्त्र सभी पुरुषों एवं स्त्रियों के लिए है, चाहे वे जिस जाति के हों।”² अन्य बहुत से तन्त्र के ग्रन्थों में भी यही दृष्टिकोण मिलता है।³ कई तन्त्र के ग्रन्थों में पुरोहित का कार्य निम्न जातियों के लोगों एवं स्त्रियों द्वारा सम्पादित किये जाने का विधान मिलता है।⁴ तन्त्रों में धर्म-गुरु का महत्त्व विशेष मिलता है। तान्त्रिक धर्म के सामान्य अनुयायी धर्म-गुरु के पास लौकिक एवं आध्यात्मिक कल्याण के लिए जाते थे।⁵ परन्तु कालान्तर में इस धर्म को अभिजात वर्ग के बहुत से लोगों ने भी अपनाया।⁶ बृहद्धर्म पुराण में मिलता है कि तान्त्रिक बौद्ध, शैव एवं शाक्त धर्मों के कारण बंगाल एवं उसके आस-पास के क्षेत्रों में वर्णाश्रम-व्यवस्था की स्थिति संकटपूर्ण हो गयी थी।⁷

पूर्व मध्यकाल के द्वितीय चरण में उत्तरी भारत की तुर्क-विजय के पहले ही समाज के कुछ निम्न वर्गों के लोग, विशेष रूप से, सूफियों⁸ के प्रभाव में आने लगे। कुछ विद्वानों⁹ के अनुसार, शिल्पी एवं कारीगर इनमें से अधिक थे : ये ऊँच-नीच के सामाजिक अनुक्रम में अपने ऊपर हेयत्वरोपण से असन्तुष्ट रहे होंगे¹⁰ और अपनी सामाजिक स्थिति के उन्नयन की आशा से इनमें से बहुत से लोगों ने इस्लाम धर्म स्वीकार किया होगा।

1 पी० सी० बागची, स्टडीज़ इन दि तन्त्रस्, कलकत्ता, 1939, पृ० 45.

2 एवं 3. बुडरॉफ, इन्ट्रोडक्शन टु तन्त्रशास्त्र, पृ० 31.

बी० एन० एस० यादव, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 380.

4. वही।

2 बुडरॉफ, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 63.

3. बी० एन० एस० यादव, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 380.

4. हाजरा, स्टडीज़ इन दि उपपुराणस्, जिल्द 2, पृ० 461.

5. जॉन ए० सुभान, सूफीज्म, इट्स सेंट्स ऐण्ड श्राइन्स, पृ० 60, 201; उद्धृत द्वारा बी० एन० एस० यादव, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 104 पादटिप्पणी 656. ; टाइटस, इंडियन इस्लाम, पृ० 43; बी०एन०एस० यादव, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 61, 105 पादटिप्पणी 671.

9 एवं 10. राहुल सांकृत्यायन (सम्पादक), हिन्दी काव्य-धारा, भूमिका, पृ० 30-31.

जुलाहों द्वारा इस धर्म को ग्रहण करने का अधिक स्पष्ट प्रमाण मिलता है। इनकी सापेक्षिक आर्थिक स्थिति अच्छी थी, पर सामाजिक अनुक्रम में इन्हें बहुत निम्न माना जाता था। मुल्तान में रहने वाले, संदेश रासक नामक अपभ्रंश ग्रन्थ के रचयिता, अब्दुरहमान का जुलाहा-वंश दसवीं शताब्दी के अन्त के कुछ पहले ही इस्लाम धर्म ग्रहण कर चुका था।¹

1. वही, पृ० 30. सन्देश रासक के कुछ अंश हिन्दी काव्य-धारा (पृ० 292-313) में समाविष्ट किए गये हैं।

भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापित होने के बाद यह पाया गया कि पंजाब से ढाका तक के क्षेत्र में मुस्लिम बुनकरों की संख्या काफी बड़ी थी; हर्बर्ट रिजले, दि पीपुल आफ इंडिया, पृ० 126.

निष्कर्ष

सिन्धु सभ्यता के नगरीय पुरास्थलों से प्राप्त सामग्री एवं अवशेषों में परिलक्षित उच्च-स्तरीय शिल्प-कौशल से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि उस काल में कुम्भकारों; प्रस्तर-शिल्पियों; बद्धियों; स्वर्णकारों; ताँबे एवं कांसे का काम करने वालों; जुलाहों; मनकों मुहरों, हाथी-दाँत, एवं शंख का काम करने वालों; आदि के अलग-अलग शिल्प-समुदाय नगरों में बन गये थे। पर लिखित स्रोत से प्राप्त होने वाली जानकारी के अभाव में उनके संगठन एवं सामाजिक स्थिति के विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

ऋग्वैदिक काल में हमें कई कारीगरों के नाम मिलते हैं : तक्षन् (बढ़ई), कर्मार या कामार (सामान्य धातुकर्मी), हिरण्यकार (सुनार), चर्मन् (चर्मकार), वासो-वाय (कपड़ा बुनने वाला), आदि के उल्लेख ऋग्वेद में विभिन्न स्थलों पर मिलते हैं। उत्तर वैदिक काल में अन्य तीन संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं उपनिषदों की रचना हुयी। इस काल में लोहे के उपयोग के साक्ष्य मिलने लगते हैं, जिससे शिल्प-उपकरणों की क्षमता में वृद्धि हुयी। इससे कृषि, उद्योग-धन्धों एवं विनिमय के क्षेत्रों में प्रगति का मार्ग प्रशस्त हुआ। सामाजिक विकास के क्रम में चतुर्वर्ण-व्यवस्था का आविर्भाव होने लगा। कुरु, पंचाल आदि अपेक्षाकृत बड़े क्षेत्रीय राज्यों एवं उनके प्रशासनिक ढाँचों का उदय हुआ। इस काल में ऋग्वैदिक काल से चली आ रही शिल्पों की परम्परा में विस्तार दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद में सभी प्रकार के लकड़ी के शिल्प-कर्म करने वाले के लिए तक्षन् शब्द ही मिलता है। पर उत्तर वैदिक काल में लकड़ी का रथ बनाने वालों का एक अलग समुदाय बन गया और उन्हें रथकार का अभिधान दिया गया। मणिकार, रज्जु-सर्ज (रस्सी बनाने वाला), धनुषकार (धनुष बनाने वाला), इषुकार (बाण बनाने वाला), बिदल-कारी (टोकरी बनाने वाला), आदि के उल्लेख भी पहले-पहल इसी काल के स्रोतों में मिलते हैं। मिट्टी के बर्तन बनाने की परम्परा की प्राचीनता नव पाषाण-काल तक जाती है। पर कुम्भकार के लिए कुलाल या कौलाल शब्द उत्तर वैदिक काल के ही कुछ ग्रन्थों में सर्वप्रथम मिलते हैं। कर्मार

एवं हिरण्यकार के उल्लेख पहले की भाँति इस काल के स्रोतों में भी मिलते हैं। शिल्पियों एवं कारीगरों की संघटित श्रेणियों के स्पष्ट साक्ष्य वैदिक काल के स्रोतों में नहीं मिलते हैं।

लगभग छठी शताब्दी ई०पू० से प्राङ्मौर्य काल (लगभग ३०० ई०पू०) तक की कालावधि में शिल्पियों एवं कारीगरों के सम्बन्ध में जानकारी मुख्य रूप से प्राचीन बौद्ध पालि-ग्रन्थों, ग्रन्थसूत्रों, धर्मसूत्रों, पाणिनि की अष्टाध्यायी आदि से उपलब्ध होती है। आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विकास की जो प्रगति चल रही थी वह छठी शताब्दी ई०पू० तक आते-आते एक महत्वपूर्ण चरण पर पहुँच जाती है। लोहे के उपकरणों के प्रयोग से कृषि में विकास हुआ। अन्न-उत्पादन के अपेक्षाकृत अतिरिक्त और अधिक क्षमता वाले लोहे के औजारों के प्रयोग के फलस्वरूप उद्योग-धन्धों में प्रगति हुयी। इसी क्रम में नगरों का विकास हुआ; वाणिज्य एवं व्यापार का विस्तार हुआ; विनिमय के माध्यम से रूप में सिक्कों का प्रचलन हुआ और विस्तृत क्षेत्रीय राज्यों की स्थापना हुयी, जिनमें शिल्पियों का संरक्षण बढ़ा। सर्वप्रथम इसी काल में चाँदी के आहत सिक्कों के प्रचलन के निश्चित प्रमाण मिलते हैं। उद्योग-धन्धों में प्रगति के साथ-साथ नगरों में शिल्पियों एवं कारीगरों के समुदायों की विविधता बढ़ी, उनके शिल्प-कौशल में वृद्धि हुयी और उनके संघटन विकसित हुए।

लकड़ी की गाड़ी बनाने वाले, कपड़ा बुनने वाले, ईंट-चिनाई करने वाले आदि कारीगर पहले भी थे। पर इनके समुदायों के लिये क्रमशः 'यानकार', 'तन्तवाय' या 'पेसकार', एवं 'पलगण्ड' शब्द इसी काल के प्राचीन बौद्ध पालि साहित्य में मिलते हैं। धर्मशास्त्र-परम्परा में, जैसा कि गौतम धर्मसूत्र (10.60) से ज्ञात होता है, शिल्प-वृत्ति को शूद्रों से सम्बन्धित किया जाने लगा। इस काल में शिल्प-श्रेणियों के संघटन के संस्थागत रूप के स्पष्ट साक्ष्य मिलते हैं। प्राचीन बौद्ध पालि ग्रन्थों में श्रेणियों की संख्या अष्टादश बतायी गयी है, जिनमें से वड्ढकि (बढ़ई) श्रेणी, कम्मर (धातु-कर्मी) श्रेणी, चम्मकार (चर्मकार) श्रेणी, एवं चित्तकार (चित्रकार) श्रेणी के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। ये श्रेणियाँ नगरों में अलग-अलग शिल्पों में संलग्न लोगों द्वारा अपने-अपने व्यवसाय के हित-संवर्धन हेतु गठित की जाती थीं। नगरों के पास लोहारों, कुम्भकारों आदि के अलग-अलग ग्राम होते थे : ऐसे ग्रामों में भी श्रेणियों का गठन किया जाता था। श्रेणि का अध्यक्ष जेड्डक कहा जाता था। पाणिनि की अष्टाध्यायी से ज्ञात होता है कि मिश्रित आबादी वाले ग्रामों में भी कुम्भकार आदि कुछ शिल्पी रहते थे, जो ग्रामवासियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे।

मौर्य काल में, भारत के अधिकांश भूभाग की राजनीतिक एकता, केन्द्रीकृत विस्तृत प्रशासन-तंत्र, सुचारु सुरक्षा-व्यवस्था तथा राज्य द्वारा कृषि, उद्योग एवं व्यापार को प्रोत्साहन की पृष्ठभूमि में, अन्य क्षेत्रों के साथ-साथ, उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व उन्नति हुयी। पर, जैसा कि अर्थशास्त्र एवं अन्य स्रोतों के साक्ष्य से संकेत मिलता है, काष्ठ-स्थापत्य, वस्त्र-बुनाई के शिल्प, धातु-शिल्प एवं जवाहरात के शिल्प में विशेष उन्नति हुयी। अशोक के प्रस्तर-स्तम्भों की उत्कृष्ट कला से ज्ञात होता है कि संगतराशी के शिल्प का भी उल्लेखनीय उत्कर्ष हुआ।

अर्थशास्त्र में लोहाध्यक्ष, सुवर्णाध्यक्ष, आयुधागाराध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष एवं रक्षाध्यक्ष के निदेशन में अलग-अलग राजकीय शिल्प-कार्यशालाओं को स्थापित कराने का प्रावधान किया गया है। इन कार्यशालाओं में इन निदेशकों द्वारा शिल्पियों को वेतन पर नियोजित करने की व्यवस्था इस ग्रन्थ में की गयी है। किलेबन्दी से युक्त राजधानी के नगर में, अन्य लोगों के अतिरिक्त, धातु-कर्मियों, जौहरियों, प्रसाधन का सामान बनाने वालों आदि को बसाने का भी निर्देश दिया गया है। इन शिल्पियों एवं कारीगरों में से बहुत से राजकीय शिल्प-कार्यशालाओं में नियोजित किये जाने हेतु रहे होंगे। पर इनमें अपना स्वतन्त्र काम करने वाले शिल्पी एवं कारीगर भी रहे होंगे। इससे मौर्य साम्राज्य के अन्य बड़े नगरों में भी इसी प्रकार की व्यवस्था का संकेत मिलता है।

अर्थशास्त्र में कारुकों के कपट को रोकने के नियमों के साथ ही उनके वेतन तथा उनकी एवं उनके शिल्प-उत्पादन की सुरक्षा का भी प्रावधान मिलता है। यूनानी भूगोल-वेत्ता एवं इतिहासकार स्ट्रैबो के अनुसार, यदि किसी व्यक्ति के द्वारा किसी शिल्पी के हाथ या आँख की हानि होती थी तो उस अपराधी को मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। किन्तु अर्थशास्त्र में ऐसे अपराधों के लिए केवल धन-दण्ड का ही प्रावधान मिलता है।

एरियन द्वारा दिये गये मेगस्थनीज के विवरण के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में भारतीय समाज की सात जातियों (व्यावसायिक वर्गों) में एक जाति हस्तशिल्पियों एवं फुटकर विक्रेताओं की थी। इससे स्पष्ट होता है कि उस काल में शिल्पियों एवं कारीगरों का एक स्पष्ट व्यावसायिक वर्ग था। मेगस्थनीज के इस विवरण में यह भी मिलता है कि इन लोगों को अपने श्रम से उत्पादित वस्तुओं में से कुछ वस्तुओं को कर के रूप में देना पड़ता था। लोक-सेवा के कार्यों के लिए सामान्य शिल्पियों से बेगार भी लिया जाता था।

अर्थशास्त्र में राज्य से कारुकों एवं शिल्पियों के ऊपर कठोर नियंत्रण रखने की अपेक्षा की गयी है। माल को बनाकर देने में देरी करने, ग्राहकों के निर्देश का पालन न करने आदि को दण्डनीय अपराध माना गया है। स्ट्रैबों द्वारा दिये गये मेगस्थनीज के उद्धरण से ज्ञात होता है कि नगर-प्रशासन हेतु गठित छह समितियों में से एक शिल्पियों एवं कारीगरों द्वारा बनाये गये सामानों का निरीक्षण करती थी। इसी उद्धरण में यह भी मिलता है कि राजकीय पदाधिकारी लकड़ी काटने वालों, बढइयों, लोहारों आदि के कार्यों का निरीक्षण करते थे। इससे नगर के बाहर रहने वाले एवं राज्य के लिये काम करने वाले शिल्पियों पर भी एक सामान्य नियन्त्रण द्योतित होता है। अर्थशास्त्र में कारुक-श्रेणी के उल्लेख मिलते हैं, पर इन श्रेणियों के विधान एवं कार्यों के विषय में स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती है।

लगभग 200 ई०पू० से लगभग 300 ई० का काल नगरों की संख्या में वृद्धि एवं नागरिक जीवन के स्तरोन्नयन; सामान्यजन-सुलभ ताँबे, सीसे आदि के सिक्कों के बड़े पैमाने पर प्रचलन; तथा आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार की महत्वपूर्ण प्रगति की दृष्टि से प्राचीन भारत का विशेष समृद्ध काल माना गया है। इस काल में पहले से चले आ रहे लोहकार, कांस्यकार आदि के धातु-शिल्पों तथा कोलिक (जुलाहा), मणिकार (रत्न तराशने वाला), कुम्भकार, वर्धकि, दन्तकार आदि के शिल्पों में विशेष उन्नति दृष्टिगोचर होती है। कुछ अभिलेखों में प्रस्तर-शिल्प से सम्बन्धित राजगीर (सेलेवढकिन् = शैलवर्धकिन्; सेलवढकी) एवं मूर्तिकार (रूपकारक; लूपदख = रूपदक्ष आदि) के भी उल्लेख मिलते हैं, जो इस शिल्प के विकास के द्योतक हैं।

ईसवीं सन् की प्रारम्भिक दो शताब्दियों में भारत का व्यापार मध्य एशिया, चीन एवं रोम साम्राज्य के साथ होता था। पेरिप्लस के अनुसार, भारतीय लोहा एवं इस्पात खम्भात की खाड़ी के आस-पास के क्षेत्रों से अफ्रीका के बन्दरगाहों को भेजा जाता था। पेरिप्लस के साक्ष्य से यह भी ज्ञात होता है कि उज्जयिनी एवं तगर से अरब, सोकोत्रा और मिस्र को बड़ी मात्रा में सूती वस्त्रों का निर्यात किया जाता था। इन वस्त्रों के लिए रोम-साम्राज्य के विभिन्न भागों में बाजार मिलती थी। बंगाल का मलमल भी बाहर भेजा जाता था। इस प्रकार लोह-शिल्प तथा वस्त्रोद्योग के क्षेत्रों में इस काल में विशेष उन्नति हुयी।

इस काल के साहित्यिक स्रोतों में विभिन्न शिल्पियों एवं कारीगरों के प्रकारों की संख्या पहले से बहुत अधिक मिलती है। मिलिन्दपञ्चो में नगर में रहने वाले कुल 75 पेशों में संलग्न समुदायों को गिनाया गया है, जिनमें से 34 समुदाय स्पष्टतः शिल्पियों एवं कारीगरों के हैं। इनमें धातुकर्मियों की संख्या आठ मिलती है। पहले की भाँति शिल्पियों एवं कारीगरों में से बहुत से अपने उत्पादों का विक्रय मध्यस्थ व्यापारियों को अथवा/और सीधे ग्राहकों को करते रहे होंगे। कुछ केवल शिल्प-कर्मकर ही रहे होंगे।

बौद्ध ग्रन्थ महावस्तु अवदान में राजगृह एवं कपिलवस्तु नगरों में निवास करने वाले कुल 101 पेशों के लोग गिनाये गये हैं। इनमें से लगभग 36 पेशों के लोग स्पष्ट रूप से शिल्प-कर्म एवं कारीगरी से सम्बन्धित बताये गये हैं। पर यह तालिका पूर्ण नहीं लगती है। इस ग्रन्थ में भी धातु-शिल्पियों के प्रकार एवं उनकी संख्या लगभग वही हैं जो मिलिन्दपञ्चो में हैं। जैन ग्रन्थ अंगविज्जा, जो मुख्यतः कुषाण काल की स्थिति का द्योतक है, में भी शिल्पियों एवं कारीगरों के अभिधान मिलते हैं : ये अधिकांश वही हैं जिनका उल्लेख महावस्तु में है। इस ग्रन्थ में शिल्प-उत्पादों-- वस्त्रों; आभूषणों; धातुओं, प्रस्तर एवं मिट्टी के भाजनों; चमड़े की बनी वस्तुओं; आदि-के विशेष उल्लेख मिलते हैं। इस काल के कई अभिलेखों में भी हमें शिल्पियों, उनके धार्मिक दानों एवं उनमें से कुछ की श्रेणियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इन श्रेणियों में धन-निवेश के उल्लेख उनकी समृद्धि के द्योतक हैं।

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद जो राज्य बने थे उनमें अर्थ-व्यवस्था पर कठोर नियन्त्रण नहीं रह गया था। राज्य का नियन्त्रण शिथिल होने की स्थिति में, उद्योग-धन्धों एवं व्यापार की उन्नति तथा सिक्कों के अधिक प्रचलन के क्रम में, शिल्पियों तथा व्यापारियों के श्रेणि-संगठनों का उन्नयन हुआ और उनके अधिकारों में वृद्धि हुयी। इसके स्पष्ट प्रमाण हमें पहले-पहल याज्ञवल्क्य स्मृति (2.30) में मिलते हैं, जिसकी रचना का काल 100 ईसवी से 300 ईसवी के बीच माना जाता है।

अमरकोश, वराहमिहिर की बृहत्संहिता, आदि साहित्यिक स्रोतों एवं कुछ पुरातात्विक स्रोतों से ज्ञात होता है कि गुप्त काल में लोहकार, स्वर्णकार, मणिकार, हाथी-दाँत के शिल्पकार, कुम्भकार, तन्तुवाय, तुन्नवाय या सौचिक (दर्जी), वर्धकि, तैलिक, शौण्डिक (सुरा बनाने वाले), इत्रसाज, रंगरेज, मालाकार, प्रस्तर-शिल्प से सम्बन्धित शिल्पकार, सेवा-कर्म से सम्बन्धित कारीगरों (नापित, रजक) आदि की शिल्प-परम्परायें पहले की

भाँति प्रचलित थीं। अमरकोश में इनमें से अधिकांश के लिए एक से अधिक अभिधान और इनके द्वारा विशिष्ट तकनीकों के प्रयोग के साक्ष्य मिलते हैं। इनमें से कुछ शिल्पों में प्रगति के भी साक्ष्य मिलते हैं, जिनमें लोह-शिल्प एवं प्रस्तर-शिल्प विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

कुषाण काल के ग्रन्थ अंगविज्जा में लोहे के लिए तीन अभिधान मिलते हैं; पर गुप्तकाल के शब्दकोश अमरकोश में लोहे के सात नाम दिये गये हैं। लोहकार का एक पर्यायवाची शब्द व्योकार भी बताया गया है। हल में लगाये जाने वाले लोहे के फाल के लिए इसमें पाँच नाम मिलते हैं। इससे उस काल में इस उपकरण के उत्पादन में वृद्धि एवं कृषि के विस्तार का संकेत मिलता है। चन्द्र के सुविदित मेहरौली स्तम्भ से यह स्पष्ट है कि लोह-शिल्प का तकनीकी ज्ञान गुप्त काल में काफी ऊँचे स्तर पर पहुँच गया था। गुप्त-वाकाटक युग एवं बाद के काल में प्रस्तर-शिल्प से सम्बन्धित स्थापत्य एवं मूर्तिकला की विशेष उन्नति हुयी। प्रस्तर-शिल्प में लगे वास्तुकारों, संगतराशों, मूर्तिकारों आदि के क्रिया-कलाप में विस्तार, उनकी संख्या में वृद्धि तथा उनके शिल्प-कौशल में उत्कर्ष हुए। पाँचवी और छठी शताब्दी के बीच मथुरा और सारनाथ की प्रस्तर-मूर्तिकला की उत्कृष्टता सुविदित है।

गुप्त-काल की स्थिति पर प्रकाश डालने वाली नारद, बृहस्पति एवं कात्यायन की स्मृतियों में श्रेणियों के संगठन, अधिकार एवं क्रिया-कलाप के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत विस्तृत नियम मिलते हैं। इससे श्रेणियों की सुदृढ़ संस्थागत स्थिति द्योतित होती है। अमरकोश से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जाति-प्रथा के कठोर होने के क्रम में विभिन्न शिल्पी शूद्र वर्ण के अन्तर्गत अलग-अलग जाति-समुदायों से सम्बन्धित होने लगे थे।

गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात्, और विशेष रूप से हर्ष के काल के बाद, पूर्व मध्यकाल में राजनीतिक अस्थिरता के कई दौर आये। इस काल में व्यापार, मौद्रिक अर्थव्यवस्था एवं नगरों के हास; आत्मनिर्भर स्थानीय कृषिक अर्थ-व्यवस्था के बढ़ते प्राधान्य; तथा सामन्तवाद के विकास के परिवेश में व्यापारियों एवं शिल्पियों के आर्थिक क्रिया-कलाप एवं उनकी श्रेणियों का हास परिलक्षित होता है। पर पूर्व मध्यकाल के द्वितीय चरण (10वीं-11वीं से 12वीं शताब्दी) में राजनीतिक स्थिति में अपेक्षाकृत स्थायित्व आया, व्यापार में प्रगति हुयी, सिक्कों का अपेक्षाकृत अधिक प्रचलन हुआ, और इसी के साथ-साथ शिल्पियों एवं

व्यापारियों के क्रिया-कलाप में भी विस्तार हुआ। इस चरण में विशेष रूप से वस्त्रोद्योग, रत्नों एवं धातुओं से सम्बन्धित शिल्पों, प्रस्तर-शिल्प और मदिरा-निर्माण के क्षेत्रों में प्रगति दृष्टिगोचर होती है। लोहकार के शिल्प का विशेष विकास इस काल में युद्धों के लिये हथियारों की आवश्यकता की पूर्ति के सन्दर्भ में हुआ। स्वर्णकार, मणिकार, विभिन्न प्रकार के उत्कृष्ट वस्त्रों के बुनकर एवं कल्लपाल (मदिरा का निर्माण करने वाले) सामन्ती समुदाय, भूमिपतियों एवं समृद्ध लोगों की वैभव एवं विलासिता की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। प्रस्तर-शिल्पियों का शिल्प-कर्म इस काल के अनेक मन्दिरों एवं मूर्तियों में परिलक्षित होता है, जिनका निर्माण राजाओं एवं समृद्ध लोगों ने धार्मिक उद्देश्य से कराया।

उपर्युक्त नगर-शिल्पियों से ग्राम-शिल्पियों की स्थिति भिन्न थी। पूर्व मध्य काल की आत्मनिर्भर स्थानीय कृषिक अर्थव्यवस्था के प्राबल्य के परिवेश में ग्राम-शिल्पियों (कुम्भकार, लोहकार, बढ़ई, नापित एवं रजक) की भूमिका महत्वपूर्ण हो गयी थी। पर इन्हें ग्राम से सम्बद्ध, ग्रामभृत एवं अस्वतन्त्र माना जाता था।

(2)

शिल्पियों की श्रेणियों के सुव्यवस्थित होने तथा शिल्पों में दक्षता एवं कौशल के विकास एवं परिरक्षण में शिल्प-प्रशिक्षुता की परम्परा की महत्वपूर्ण भूमिका थी। यद्यपि इस परम्परा के साक्ष्य कुछ प्राचीन बौद्ध पालि-ग्रन्थों में भी मिलते हैं, इसके व्यवस्थित रूप का स्पष्ट प्रमाण पहले-पहल याज्ञवल्क्य स्मृति (लगभग 100-300 ई०) में ही मिलता है। नारद स्मृति (100-400 ई०), बृहस्पति स्मृति (300-500 ई०) एवं कात्यायन स्मृति (400-600 ई०) से इस पर और अधिक प्रकाश पड़ता है। प्रशिक्षुता की व्यवस्था एक प्रकार का अनुबन्ध थी, जो मध्य युगीन यूरोप की श्रेणि-व्यवस्था में भी दृष्टिगोचर होता है।

नारद स्मृति से यह ज्ञात होता है कि यदि कोई किसी शिल्प में प्रशिक्षुता ग्रहण करना चाहता था तो उसे अपने सगे सम्बन्धियों से अनुमति प्राप्त कर उस शिल्प के किसी शिल्पाचार्य से, अन्तेवासी के रूप में, एक सुनिश्चित अवधि के लिए सम्बद्ध होना पड़ता था। शिल्पाचार्य का कर्तव्य होता था कि वह अन्तेवासी को पुत्रवत् मानते हुये उसके लिए अपने गृह में आवास एवं भोजन की व्यवस्था करे और उसे समुचित रूप से प्रशिक्षण दे। कात्यायन स्मृति से ज्ञात होता है कि प्रयोगात्मक प्राविधिक प्रशिक्षण के क्रम में शिल्पाचार्य अन्तेवासी को साथ लेकर साझेदारी (सम्भूयसमुत्थान) में भी कार्य करता था। प्रशिक्षुता के दौरान अन्तेवासी को कड़े अनुशासन में रहना पड़ता था और उसे श्रद्धा-भाव से आचार्य की शुश्रूषा करनी पड़ती थी। जो अन्तेवासी विधिवत् प्रशिक्षण देने वाले आचार्य को छोड़ देता था वह शारीरिक दण्ड का भागी माना जाता था, और उसे आचार्य के साथ रहने के लिए बलपूर्वक बाध्य किया जाता था। प्रशिक्षण प्रदान करने में लापरवाही करने वाले अथवा अन्तेवासी से अन्य कार्य करवाने वाले आचार्य को अन्तेवासी छोड़ सकता था। कात्यायन स्मृति में ऐसे आचार्य के लिए अर्थ-दण्ड का भी विधान किया गया है।

यह प्रशिक्षुता-व्यवस्था गुरुकुल-प्रणाली पर आधारित थी, जिसमें आचार्य एवं शिष्य के बीच आत्मीयता का सम्बन्ध होता था। इसके प्रचलन के प्रमाण मथुरा के दो अभिलेखों में मिलता है, जिनमें से एक में शिल्पाचार्य कुणिक के अन्तेवासी गोमन्तक का नाम मिलता है और दूसरे में उसी आचार्य के एक अन्य अन्तेवासी नाक का उल्लेख है।

नारद स्मृति के साक्ष्य से यह संकेत मिलता है कि ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में प्रशिक्षु के लिए अपनी जाति से सम्बन्धित पैतृक शिल्प को ही ग्रहण करने का आग्रह नहीं था। पर जाति-प्रथा के उत्तरोत्तर

दृढ़ीभूत होने के क्रम में उसे आत्मजात्युचित (अपनी जाति का उचित) शिल्प ग्रहण करने का विधान किया जाने लगा। व्यावहारिक शिल्पों के क्षेत्र में प्रशिक्षुता-व्यवस्था का दायरा प्राविधिक व्यावसायिक प्रशिक्षण तक ही सीमित था। सामान्य शिक्षा का इसमें कोई स्थान नहीं था। प्रशिक्षु को कठोर अनुशासन में रहना पड़ता था, जिसके कारण इस व्यवस्था में शिल्प-सम्बन्धी नये विचारों एवं तकनीकों के उदय का अवकाश बहुत कम रहा होगा। पर इन कमियों के बावजूद प्रशिक्षु शिल्पाचार्य की व्यक्तिगत देख-रेख में उसकी कार्य-पद्धति का निरीक्षण कर तथा उसके शिल्प-कार्य में सहभागिता कर उच्च स्तर का प्राविधिक ज्ञान एवं अनुभव प्राप्त कर लेता था। इस प्रकार शिल्प-कौशल, शिल्पोत्पादन और शिल्प-श्रेणियों के विकास में इस व्यवस्था की महत्वपूर्ण भूमिका थी।

विभिन्न शिल्पों में संलग्न शिल्पकार सुरक्षा एवं सामूहिक हित-संवर्धन के उद्देश्य से स्थानीय स्तर पर श्रेणियों में संगठित होते थे। इन शिल्प-श्रेणियों के गठन एवं संविधान पर याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति एवं कात्यायन की स्मृतियाँ महत्वपूर्ण प्रकाश डालती हैं। याज्ञवल्क्य (100-300 ई०) पहले धर्मशास्त्रकार हैं जिन्होंने यह विहित किया कि राजा को श्रेणियों के प्रचलित आचारों को मान्यता देने के अतिरिक्त उनका रक्षण करना एवं अनुपालन भी कराना चाहिए। उपर्युक्त स्मृतियों से ज्ञात होता है कि 'कोश' (दिव्य), 'लेख्य-क्रिया', अथवा 'मध्यस्थ' के माध्यम से श्रेणि-सदस्यता के प्रत्याशी के साथ पारस्परिक विश्वास उत्पन्न किया जाता था। जो श्रेणि का सदस्य बन जाता था वह उसकी परिसम्पत्ति, देनदारी, लाभ एवं हानि का समान रूप से अंशभागी हो जाता था। प्रत्येक शिल्प-श्रेणि का एक प्रमुख होता था, जिसके लिए कई अभिधान मिलते हैं। जातकों, महाभारत, महावस्तु अवदान एवं बृहस्पति स्मृति में इसे क्रमशः जेठुक, श्रेणि-मुख्य, महत्तर, तथा अध्यक्ष या मुख्य कहा गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में श्रेणि में समूह के हित की बात बताने वाले कार्य-विचारकों (कार्य-चिन्तकों) की भी व्यवस्था करने का विधान मिलता है। इनके सुझावों के अनुसार समूह-हित में काम करना श्रेणि के सभी सदस्यों का कर्तव्य माना गया है। बृहस्पति स्मृति के अनुसार इन कार्य-चिन्तकों की संख्या 2, 3 या 5 होनी चाहिए। श्रेणि के प्रथागत आचारों के संरक्षण तथा उनकी वैधता प्रमाणित करने हेतु तैयार किये गये प्रलेख को स्थिति-पत्र, स्थिति-पत्रक या आचार-स्थिति-पत्र कहा जाता था। बृहस्पति स्मृति (17.11) से यह संकेत मिलता है कि श्रेणि के सदस्य सभागृह में एकत्रित होकर सार्वजनिक कार्य-सम्पादक हेतु विचार-विमर्श

करते थे। इससे एवं कात्यायन स्मृति के साक्ष्य से यह स्पष्ट है कि इस विचार-विमर्श की प्रक्रिया में लोकतान्त्रिक तत्त्व महत्त्वपूर्ण था।

श्रेणियाँ अपने सामूहिक कार्यों के लिए विनियम बना सकती थीं तथा अनुबन्ध के आधार पर अपने सदस्यों पर उपकर भी लगा सकती थीं। यदि कोई सदस्य सामूहिक अनुबन्ध की उपेक्षा कर सामूहिक कार्यों (देवगृह, तडाक, सभागृह आदि बनवाने) में अपना निश्चित अंशदान नहीं करता था तो वह आर्थिक दण्ड का भागी माना जाता था। बृहस्पति स्मृति में श्रेणी, पूग एवं राजा से द्वेष करने वाले सदस्य को समूह से निष्कासित करने अथवा नगर से निर्वासित करने का विधान मिलता है।

श्रेणियों को स्वायत्तता प्राप्त थी। याज्ञवल्क्य स्मृति, नारद-स्मृति, बृहस्पति-स्मृति आदि धर्मशास्त्र ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि उन्हें न्यायिक शक्ति भी प्राप्त थी। नारद स्मृति में आरोही क्रम में कुल के, श्रेणि के, गण के, राजा द्वारा अधिकृत न्यायाधिकरण के, एवं राजा के न्यायालय का उल्लेख मिलता है। इनमें से प्रत्येक के विरुद्ध उच्चतर न्यायालय में अपील की जा सकती थी। श्रेणियों को सभी आपसी विवादों, जो उनके विशिष्ट क्षेत्र एवं जानकारी के अन्तर्गत आते थे, के निर्णय का अधिकार प्राप्त था। पर हिंसात्मक अपराधों के सम्बन्ध में निर्णय (साहस-न्याय) उनके अधिकार-क्षेत्र में नहीं था। समूहों (श्रेणि आदि) के सदस्यों के आपस में संघात (हिंसात्मक संघर्ष), एक श्रेणि का दूसरी से उपघात, या श्रेणियों के अपने मुख्यों से विसंवाद (विवाद) की स्थिति में राजा को हस्तक्षेप करने के लिए कहा गया है। कुछ विद्वानों के अनुसार श्रेणियाँ सामान्य न्यायालयों के रूप में अपने सदस्यों के अतिरिक्त अन्य लोगों के वादों का भी निर्णय करती थी। पर यह मत सन्दर्भ के अनुकूल नहीं लगता है।

अभिलेखीय साक्ष्यों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि शिल्पि-श्रेणियों की बड़ी साख थी और वे स्थानीय बैंकों के रूप में भी काम करती थीं। श्रेणियों में स्थायी निधि के रूप में धन जमा कर उसके ब्याज से शाश्वत एवं सतत धार्मिक दान की व्यवस्था किये जाने के साक्ष्य मौर्योत्तर काल के अभिलेखों में मिलते हैं। जिन शिल्पि-श्रेणियों में इस प्रकार धन-निवेश करने के उल्लेख मिलते हैं वे जुलाहों, कुम्भकारों, जल-यन्त्र निर्माण करने वालों, तैलिकों, कांस्यकारों, बाँस का काम करने वालों, आदि की श्रेणियाँ हैं। इस परम्परा का अभिलेखीय साक्ष्य गुप्त काल में भी मिलता है। समृद्ध शिल्पि-श्रेणियों की अपनी-अपनी मुहरें भी रही होंगी। भीटा

(इलाहाबाद जनपद, उ० प्र०) एवं बसाढ़ से प्राप्त होने वाली 'कुलिक निगम' लेख वाली मुहरें उन शिल्प-श्रेणियों की लगती हैं जिनके अध्यक्ष कुलिक कहे जाते थे।

शिल्प-श्रेणियाँ सामूहिक रूप से धार्मिक एवं लोकोपकारी कार्य भी करती थीं। पट्टवायों (रेशम के बुनकरों) की श्रेणि द्वारा दशपुर में 436 ई० में सूर्य के एक मन्दिर बनवाने का उल्लेख कुमारगुप्त एवं बन्धुवर्मा के मन्दसौर प्रस्तर-अभिलेख में मिलता है। श्रेणियों के लिए देवगृह का निर्माण बृहस्पति स्मृति में भी विहित किया गया है। मन्दिरों का निर्माण कराने वाली श्रेणियाँ काफी समृद्ध रही होंगी। इसी स्मृति से यह ज्ञात होता है कि श्रेणियों के लोकहितकारी कार्यों में यात्रियों के पानी पीने के लिए प्रपा (प्याऊ) की व्यवस्था करना, तडाग (तालाब) खुदवाना, आराम (उद्यान) लगवाना आदि शामिल थे। ये कार्य सामान्य रूप से व्यापारिक श्रेणियों एवं शिल्प श्रेणियों दोनों के लिए विहित किये गये थे।

गुप्तोत्तर काल में, पूर्व मध्यकाल के प्रथम चरण में, राजनीतिक अस्थिरता के दौर, व्यापार एवं नगरों के हास, तथा सामन्ती व्यवस्था के विकास के क्रम में शिल्पियों और व्यापारियों की श्रेणियों में भी हास की प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है। उनके आर्थिक क्रिया-कलाप का संकुचन होने लगता है। इस परिवेश में शिल्प-श्रेणियों के विशिष्ट व्यावसायिक एवं सामूहिक संघटनात्मक स्वरूप का क्षरण होता है तथा उनकी स्थिति में गिरावट आती है। पहले के काल में बहुत से श्रेणिगत शिल्पी उत्पादन के साथ-साथ अपने उत्पादों को सीधे ग्राहकों को- और मध्यस्थ व्यापारियों को भी- विक्रय करते थे, और कच्चा माल लेकर वेतन पर भी सामान बनाते थे। पर 8वीं-9वीं शताब्दी के याज्ञवल्क्य स्मृति (2.192) के टीकाकार विश्वरूप ने श्रेणि को शिल्प-श्रेणि अवधारित करते हुये उसे मुख्य रूप से (वेतन पर काम करने वाले) शिल्प-कर्मकरों आदि का समूह माना है (कर्मकरादिशिल्पिसमूहः श्रेणिः)। विश्वरूप की यह व्याख्या उनके काल में शिल्प-श्रेणि के सदस्यों के व्यावसायिक क्रिया-कलाप में संकुचन एवं गिरावट की द्योतक है। पूर्व मध्यकाल के द्वितीय चरण में जब उद्योग-धन्धों, व्यापार एवं शिल्प-श्रेणियों के व्यावसायिक क्रिया-कलाप में अपेक्षाकृत उन्नयन हुआ तब इस स्मृति के भाष्यकार विज्ञानेश्वर (11वीं शताब्दी) ने इस संकुचित व्याख्या को नहीं स्वीकार किया।

असहाय (7वीं शताब्दी) की नारद स्मृति पर टीका, सारावली एवं हेमचन्द्र (12वीं शताब्दी) के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के साक्ष्य तथा अभिलेखीय साक्ष्य से ज्ञात होता है कि सामान्यतः स्वायत्त शिल्प-

श्रेणियाँ व्यापारियों के आश्रित होकर उनके प्रभुत्व में आ गयीं। कच्चे माल एवं आर्थिक सहायता के लिए वे व्यापारियों पर निर्भर हो गयी होंगी। यह परम्परा पूर्व मध्यकाल के प्रथम चरण में प्रारम्भ होकर 12वीं शताब्दी तक चलती जाती है।

शिल्पि-श्रेणि पहले के काल में भी जाति-व्यवस्था के दायरे के बाहर नहीं थी, पर उसकी विशिष्ट पहचान एककर्मोपजीवी शिल्पियों के समूह के रूप में थी। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता (8.10) में भी जाति, कुल एवं श्रेणी तथा उनके प्रधानों का अलग-अलग उल्लेख किया है। पर दसवीं शताब्दी में भट्टोत्पल ने इस ग्रन्थ पर टीका में श्रेणी को समानजाति के लोगों के समूह (संघ) के रूप में व्याख्यायित किया। इस प्रकार श्रेणि की विशिष्ट पहचान एक कर्मोपजीवी शिल्पियों के समूह के रूप में नहीं बल्कि समान जाति के लोगों के संघ के रूप में की जाने लगी। यह नयी प्रवृत्ति सामान्यतः शिल्पि-श्रेणि के व्यावसायिक स्वरूप के क्षरण की द्योतक है। (पर सर्वत्र एक जैसी स्थिति न रही होगी।) पूर्व मध्यकाल के द्वितीय चरण में उद्योग एवं व्यापार की प्रगति और शिल्पियों के व्यावसायिक क्रिया-कलाप में अपेक्षाकृत उन्नयन के परिवेश में श्रेणि की व्याख्या में अन्तर आता है। इस प्रकार विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य स्मृति पर अपनी टीका मिताक्षरा में, श्रेणि की व्याख्या के संदर्भ में, एककर्मोपजीवन के व्यावसायिक पक्ष को ही रेखांकित किया है और समानजातीयता के साथ भिन्न-जातीयता के पक्ष को भी समाहित कर लिया है।

सामान्यतः शिल्पियों एवं कारीगरों की श्रेणियों की संहति एवं सुसम्बद्धता के क्षरण की भी प्रवृत्ति पूर्वमध्य काल में दृष्टिगोचर होती है। इस काल में शिल्पि-श्रेणी में कई प्रधानों का होना, सदस्यों का अपनी श्रेणि के न्यायाधिकरण को छोड़कर अपने विवादों को सीधे राजा के पास ले जाना, श्रेणि-प्रमुखों द्वारा अपने अधिकार बढ़ा कर श्रेणि के सदस्यों पर प्रभुत्व स्थापित करना, आदि इसके प्रमाण हैं। शिल्पि-श्रेणियों की साख भी गिर गयी। पहले की भाँति उनमें स्थायी निधि का निवेश करने के स्पष्ट उल्लेख इस काल के स्रोतों में प्रायः नगण्य हैं।

शिल्पियों एवं कारीगरों की सामाजार्थिक स्थिति का अनुशीलन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही समुचित रूप से हो सकता है। ऋग्वैदिक काल में कृषि, पशुपालन एवं शिल्पकर्म में संलग्न लोग विश् (सर्वसाधारण) के रूप में जाने जाते थे। इस प्रकार ऋग्वैदिक समाज में शिल्पियों एवं कारीगरों— तक्षन् (बढ़ई), कर्मार (धातु का काम करने वाले), हिरण्यकार (सुनार), वासो वाय (कपड़ा बुनने वाले), चर्मन् (चर्मकार) आदि— सर्वसाधारण के अन्तर्गत थे : उन्हें किसी भी प्रकार के सामाजिक लांछन से नहीं सम्बन्धित किया जाता था। त्वष्टा एवं ऋभुस् (रिभु, वाज एवं विभव) नामक देवताओं की शिल्पियों के रूप में अवधारणाएँ उस काल में शिल्पियों की प्रतिष्ठित सामाजिक स्थिति की द्योतक हैं।

उत्तर वैदिक काल में सामाजार्थिक एवं राजनीतिक प्रगति के क्रम में चतुर्वर्ण-व्यवस्था का उदय हुआ, जिसमें समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्णों में विभाजित किया जाने लगा। इस व्यवस्था में शिल्पियों एवं कारीगरों को निम्नतम शूद्र वर्ण में स्थान दिया गया। पर इसके बावजूद इस काल में इन्हें हेय नहीं माना जाता था, और शारीरिक श्रम के प्रति तिरस्कार की भावना नहीं मिलती है। इस काल में रचित मैत्रायणी संहिता में चौदह रत्निन् लोगों की तालिका मिलती है, जिनके घरों पर राजा, राजसूय यज्ञ से सम्बन्धित एक प्रारम्भिक कृत्य के दौरान, क्रमिक दिनों में जाकर उपयुक्त देवताओं की उपासना करता था। इस रत्निन्-तालिका में राजन्य, महिषी, सेनानी, संगृहितृ, वैश्य-ग्रामणी आदि के अतिरिक्त तक्षन् (बढ़ई) एवं रथकार (रथ बनाने वाला) के भी उल्लेख मिलते हैं। इससे इन शिल्पियों के महत्त्व का संकेत मिलता है।

वैदिक काल के बाद लगभग छठी शताब्दी ईसवी पूर्व से प्राङ्मौर्य काल तक की कालावधि में कृषि, उद्योग-धन्धों, व्यापार, नगरीकरण, राज्य-निर्माण एवं सिक्कों के माध्यम से विनिमय के क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण प्रगति हुयी। नगरों में उद्योग-धन्धों की संख्या बढ़ी, शिल्पी एवं कारीगर अपने-अपने शिल्पों के आधार पर सुस्पष्ट समूहों (श्रेणियों) में संगठित हो गये, और इस प्रकार उनके वर्ग का विस्तार हुआ। उत्तर वैदिक काल से चली आ रही परम्परा के अनुसार शिल्पी एवं कारीगर शूद्र वर्ण के अन्तर्गत माने जाते थे, पर प्रारम्भिक बौद्ध पालि ग्रन्थों में शिल्पियों एवं कारीगरों के संदर्भ में उनके वर्ण का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है : शिल्पों तथा शूद्र

वर्ण का पूर्ण सामाज्यस्य नहीं मिलता है। गौतम धर्मसूत्र में शिल्प-वृत्ति शूद्रों के लिए विहित की गयी है, पर एक जातक के तथा बौधायन धर्मसूत्र के साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि कुछ ब्राह्मण भी शिल्प-वृत्ति करते थे।

शिल्पों तथा निम्नतम शूद्र वर्ण का पूर्ण सामाज्यस्य न मिलने के बावजूद, इस काल में कुछ शिल्पों को उत्कृष्ट (उक्कट्ट) एवं कुछ को हीन माना जाने लगा। इन हीन शिल्पों में लगे शिल्पियों के समुदाय निम्नवत् थे : नलकार (नरकुल की टोकरी, डलिया आदि बनाने वाले), कुम्भकार, पेसकार (जुलाहे), चम्मकार (चर्मकार) एवं नहापित (नाई)। इनमें से प्रथम चार उत्पादक शिल्पी थे और नापित की केशकर्तन एवं प्रसाधन से सम्बन्धित कारीगरी सेवा-शिल्प थी। हीन शिल्पों में संलग्न शिल्पियों की सामाजिक प्रतिष्ठा निम्न रही होगी। पर अन्यत्र बुनकर, बाँस का काम करने वाले, कुम्भकार एवं नापित के व्यवसायों को सामान्य शिल्पों के रूप में भी परिगणित किया गया है। इस प्रकार कुछ लोग उपर्युक्त हीन माने जाने वाले शिल्पों में से चर्मकार के शिल्प को छोड़कर अन्य को हेय दृष्टि से नहीं देखते थे।

प्रारम्भिक पालि ग्रन्थों में प्रायः, चाण्डाल, निषाद आदि कुछ आदिवासी जन-जातीय समुदायों के साथ, वेण (बाँस का सामान बनाने वाले) एवं रथकार (रथ बनाने वाले) के प्रति भी शिल्प के आधार पर नहीं अपितु निम्न कुल (निच कुल) एवं निम्न जाति (हीन जाति) के आधार पर हेय दृष्टिकोण मिलता है। रथकारों का तो व्यावसायिक समुदाय पहले से ही चला आ रहा था। पहले इनकी काफी प्रतिष्ठा थी, पर इस काल में इनकी सामाजिक स्थिति में गिरावट दृष्टिगोचर होती है।

प्राचीन बौद्ध पालि ग्रन्थों में हमें शिल्पियों द्वारा पैतृक व्यवसाय अपनाने की सामान्य प्रथा मिलती है, पर यह किसी भी प्रकार से कठोर नहीं थी। इस काल के स्रोतों में शिल्पियों की अवस्थिति-सम्बन्धी सामाजिक जीवन के तीन प्रमुख रूप मिलते हैं। नगर में अलग-अलग वीथियों में रहते हुये अपना-अपना शिल्प-कर्म करने वाले शिल्पी; नगर के आस-पास स्थित अपने-अपने ग्रामों में रहने वाले कुम्भकार, लोहार आदि शिल्पी; एवं मिश्रित आबादी वाले गावों में रहने वाले ग्राम-शिल्पी। नगर की वीथियों में तथा नगर के पास अपने-अपने ग्रामों में रहने वाले शिल्पी अपनी-अपनी श्रेणियों में संगठित होते थे। कुछ जातकों से ज्ञात होता है कि श्रेणि के अध्यक्ष (जेट्टक) प्रायः धन-सम्पत्ति से समृद्ध एवं सम्मान्य होते थे, और कभी-कभी राजा के कृपापात्र भी बन जाते थे। सामाजिक प्रतिष्ठा एवं आर्थिक समृद्धि में इनका स्तर श्रेणि के सामान्य सदस्यों की अपेक्षा काफी ऊँचा

रहा होगा। इस दृष्टिकोण से ग्राम-शिल्पियों की स्थिति काफी निम्न रही होगी। एक ही शिल्प में संलग्न शिल्पियों में धन-सम्पत्ति के आधार पर स्पष्ट स्तर-भेद के अन्य साक्ष्य भी प्राचीन बौद्ध एवं जैन स्रोतों में मिलते हैं। कुछ जातक कथाओं एवं पाणिनि की अष्टाध्यायी में राजकुम्भकार, राजपट्टाक नलकार, राजमालाकार, राजशिल्पिन्, राजनापित आदि विशिष्ट कोटि के शिल्पियों एवं कारीगरों के उल्लेख मिलते हैं, जो राजमहल एवं राजदरबार की सेवा में रहते थे। इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा अपने-अपने वर्ग के सभी लोगों से अधिक रही होगी।

मौर्य काल में उद्योग-धन्धों में प्रगति के क्रम में शिल्पियों के क्रिया-कलाप में और अधिक विस्तार हुआ। पहले के काल में सामान्यतः उत्कृष्ट एवं हीन शिल्पों और कुल के आधार पर शिल्पि-समुदायों का अनुक्रम निश्चित किया जाता था। पर इस काल में, जैसा कि अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है, वर्ण-व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में उनका सामाजिक अनुक्रम अवधारित करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। अर्थशास्त्र में किलेबन्दी से युक्त राजधानी के नगर में धातुओं एवं जवाहरात का काम करने वाले कारीगरों एवं शिल्पियों (स्वर्णकार, जौहरी आदि) को ब्राह्मणों के साथ; गान्धिक, मालाकार एवं प्रसाधन का काम करने वालों को क्षत्रियों के साथ; तथा ऊन, सूत, बाँस एवं चमड़े का काम करने वालों (ऊर्णवाय, तन्तुवाय, वैण एवं चर्मकार) और हथियार, कवच एवं ढाल बनाने वालों को शूद्रों के साथ बसाने की व्यवस्था दी गयी है। इससे अवरोही क्रम में इन शिल्पि-समुदायों के सामाजिक अनुक्रम का स्पष्ट संकेत मिलता है।

अर्थशास्त्र में रथकार को कर्मणा वैश्य माना गया है। इससे यह संकेत मिलता है कि मौर्य काल में इस शिल्पि-समुदाय की सामाजिक प्रतिष्ठा पहले के काल की अपेक्षा बढ़ गयी। रथकारों के शिल्प-कर्म की युद्धों एवं साम्राज्य-विस्तार के इस काल में विशेष उपयोगिता रही होगी।

अर्थशास्त्र में आर्थिक उपलब्धि एवं स्थिति के आधार पर शिल्पियों के समुदाय के दो स्तर बताये गये हैं— महाकारवः (महाकारुगण) एवं क्षुद्रकारवः (क्षुद्रकारुगण)। इन दोनों के बीच अन्तर का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि अर्थशास्त्र में विषम आर्थिक स्थिति के समय राज्य द्वारा महाकारुओं से 20 पण और क्षुद्रकारुओं से 10 पण कर लेने का विधान किया गया है। आर्थिक क्रिया-कलाप के आधार भी शिल्पियों एवं कारीगरों के दो कोटियों में वर्गीकरण का संकेत अर्थशास्त्र में मिलता है। प्रथम कोटि में 'स्ववित्तकारवः' थे, जो अपनी पूंजी से अपनी शिल्पशाला में काम करते थे, और द्वितीय कोटि में वेतन पर काम करने वाले वे शिल्पी

एवं कारीगर रहे होंगे जो अपनी पूंजी लगाकर अपना शिल्प-कर्म नहीं करते थे। वैतनिक शिल्पियों के वेतन आदि के सम्बन्ध में व्यवस्था अर्थशास्त्र (4.1) के 'कारुकरक्षणम्' प्रकरण में मिलती है। मौर्य काल में वेतन पर काम करने वाले शिल्पियों की संख्या में वृद्धि हुयी होगी, क्योंकि इस काल में, जैसा कि अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है, राज्य भी वस्तुओं के उत्पादन एवं व्यापार में सक्रिय भाग लेने लगा था। अर्थशास्त्र में मुख्य पदाधिकारियों की वेतन-योजना के संदर्भ में सबसे कम वेतन (2000 पण प्रति माह) मुख्य तक्षा का और सबसे अधिक (48000 पण प्रति माह) मंत्री, पुरोहित, सेनापति आदि का मिलता है। सामान्य तक्षा (बढ़ई) लोगों का वेतन केवल 120 पण प्रति माह बताया गया है।

लगभग 200 ईसवी पूर्व से लगभग 300 ईसवी के काल में उद्योग-धन्धों, आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार, सिक्कों के अधिक प्रचलन एवं नगरीकरण में प्रगति के क्रम में शिल्पियों की संख्या, उनके प्रकारों, तथा उनके क्रिया-कलाप में विस्तार हुआ। उनकी समृद्धि बढ़ी और इस प्रकार उनकी आर्थिक स्थिति में उन्नयन हुआ। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद जो राज्य बने उनमें शिल्पियों पर कठोर नियन्त्रण न रहने के कारण उनकी शिल्प-श्रेणियों का और अधिक संगठनात्मक एवं कार्यात्मक विकास हुआ। मौर्योत्तर काल के बहुत से ब्राह्मी अभिलेखों में हम समृद्ध शिल्पियों द्वारा दिये गये धार्मिक दानों के उल्लेख पाते हैं। द्वितीय शताब्दी में सातवाहनों के क्षेत्र में बुनकरों, तैलिकों एवं कुम्भकारों की श्रेणियों में धन के निवेश किये जाने के उल्लेख भी कुछ अभिलेखों में मिलते हैं। श्रेणि के सदस्यों की आर्थिक स्थिति एवं प्रतिष्ठा में विभेद मिलता है। श्रेणि के प्रधान एवं कार्यचिन्तक का स्तर सबसे ऊँचा रहा होगा। उनके नीचे वे सामान्य शिल्पाचार्य रहे होंगे जो अपने शिल्प-कार्य के साथ-साथ अन्तेवासियों को प्रशिक्षण देते थे। इनके भी नीचे मुख्य रूप से अपना स्वतंत्र शिल्प-कर्म करने वाले सामान्य शिल्पी रहे होंगे। सबसे नीचे मुख्यतः वेतन पर काम करने वाले कर्मकर शिल्पी रहे होंगे। मिश्रित आबादी वाले ग्रामों में रहने वाले बढ़ई, लोहार, कुम्भकार, नाई एवं धोबी की भी स्थिति शिल्प-कर्मकरों की ही रही होगी। ये ग्राम-शिल्पी श्रेणियों में संगठित नहीं रहते थे।

शिल्पी शूद्र वर्ण के अन्तर्गत माने जाते थे, और धर्मशास्त्रीय परम्परा का संवर्धन करते हुये मनु (लगभग 200 ई०पू०-200 ई०) ने यह विहित किया कि शूद्रों को धनोपार्जन कर धन-संचय नहीं करना चाहिए। पर अश्वघोष की वज्रसूची (लगभग 50 ई०पू०-50 ई०) से ज्ञात होता है कि इस काल में बौद्ध परम्परा शूद्रों के कर्त्तव्य और उनकी निर्योग्यताओं से सम्बन्धित धर्मशास्त्रीय विधान का विरोध कर रही थी। ऐसी स्थिति में, जैसा

कि अभिलेखीय साक्ष्य से ज्ञात होता है, समृद्ध शिल्पी, जो धन-संचय कर धर्मशास्त्र के विधान का उल्लंघन कर रहे थे, बौद्ध धर्म के प्रति विशेष रूप से आकर्षित हुये। अन्य उदार सामाजिक दृष्टिकोण वाले जैन धर्म आदि की ओर भी उनका झुकाव हुआ। मनुस्मृति में कारुकों एवं शिल्पियों से कर न लिये जाने का सामान्य विधान मिलता है। पर अपने द्वारा उत्पादित वस्तुओं का विक्रय करने वाले लोगों से कर लिये जाने की भी व्यवस्था मिलती है।

याज्ञवल्क्य स्मृति (लगभग 100-300 ई०) में इसका स्पष्ट साक्ष्य मिलता है कि उत्पादक शिल्पियों एवं मध्यस्थ व्यापारियों के बीच सम्बन्ध हमेशा सामञ्जस्यपूर्ण नहीं रहते थे। कभी-कभी व्यापारी अपने लाभ के लिए आपस में मिलकर वस्तुओं के दाम अनुचित रूप से घटा-बढ़ा कर शिल्पियों को पीड़ित करते थे। इस स्मृति में इसे दण्डनीय अपराध माना गया है।

गुप्तकाल में शिल्पियों एवं कारीगरों के प्रति दृष्टिकोण में उदारता एवं उनकी सामाजिक स्थिति में कुछ उन्नयन की प्रवृत्ति मिलती है। गुप्त काल के पहले के धर्मशास्त्र ग्रन्थों-मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति- में शूद्रों को द्विज-शुश्रूषा का कार्य न उपलब्ध होने पर ही शिल्पों का आश्रय लेने का विधान मिलता है। पर बृहस्पति स्मृति, जो गुप्तकाल की स्थिति पर प्रकाश डालती है, में शिल्प-वृत्ति को शूद्रों के नियमित धर्म के अन्तर्गत मान लिया गया है। इस प्रकार बृहस्पति ने पहले के धर्मशास्त्र ग्रन्थों के विधान से विचलन की तत्कालीन प्रवृत्ति को मान्यता प्रदान कर, उससे सम्बन्धित अनेक शिल्पियों के क्रिया-कलाप को धर्मशास्त्रीय औचित्य प्रदान किया। मनुस्मृति पर भारुचि (लगभग 550-650 ई०) की टीका भी इसी काल की स्थिति पर प्रकाश डालती है। भारुचि ने मनुस्मृति में शूद्रों के धन-संचय के प्रतिषेध को विशेष रूप से शूद्र शिल्पियों से सम्बन्धित माना है। इनके अनुसार मनु के इस उपदेश का तात्पर्य या तो शूद्रों को अपने अभ्युदयार्थ विशेष दान के अनुष्ठान करने की अनुज्ञा देना है या यह केवल उन्हीं शूद्रों के लिये है जो ब्राह्मण पर आश्रित हों। इस प्रकार भारुचि ने स्वतंत्र शूद्र शिल्पियों के धन-संचय को मान्यता प्रदान किया। भारुचि की इस व्याख्या से गुप्त काल में समृद्ध शिल्पियों की स्थिति का संकेत मिलता है। इसके लिये अन्य साक्ष्य भी हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र एवं उस पर जयमंगला टीका से ज्ञात होता है कि शूद्र शिल्पवृत्ति के द्वारा धन-सम्पन्न होकर नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति (नागरक) बन सकते थे। मन्दसौर प्रस्तर-अभिलेख में मिलता है कि 436 ई० में पट्टवायों (रेशम के बुनकरों) की एक श्रेणि ने अपनी संचित धन-राशि से सूर्य का एक मन्दिर बनवाया था।

गुप्त काल में शिल्पि-श्रेणियों का संस्थागत रूप सुदृढ़ हुआ। कुमारगुप्त के काल के उत्तरी बंगाल के कुछ अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कुलिकों (शिल्पियों के प्रमुखों) में श्रेष्ठ प्रथम कुलिक की भागीदारी जनपद-प्रशासन की समिति के एक सदस्य के रूप में होती थी। सम्पन्न शिल्पियों से राज्य द्वारा कर लिये जाने की प्रथा स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। वराहमिहिर के बृहज्जातक में पहले-पहल विष्टिकृत् एवं विष्टिकर शब्द बेगार करने वालों के लिये मिलते हैं : विष्टिकर शब्द शिल्पियों के संदर्भ में प्रयुक्त किया गया है। सामान्य शिल्पियों एवं कारीगरों से विष्टि (बेगार) लेने की प्रथा गुप्तोत्तर काल में भी प्रचलित रही।

गुप्तकाल के बाद पूर्व मध्यकाल में व्यापार एवं नगरों की अवनति और सामन्ती राजनीतिक व्यवस्था के विकास के क्रम में शिल्पियों की संगठनात्मक एवं सामाजार्थिक स्थिति में ह्रास के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। कथाकोश-प्रकरण (विक्रम संवत् 1108) में श्रेणिगत शिल्प-कर्मकरों के समूहों को, सामाजिक अनुक्रम के अवरोही क्रम में, केवल चण्डालों के अधमाधम वर्ग के ऊपर पाँचवे स्थान पर अधम वर्ग में रखा गया है। अन्त्यज (निम्नतम जातियों) की संकल्पना के विस्तार के संदर्भ में भी हम शिल्पियों एवं कारीगरों के कई समुदायों की अवनति के प्रमाण पाते हैं। अत्रि (लगभग 600-900 ई०) ने सात अन्त्यज जाति-समुदायों के अन्तर्गत चर्मकार, बुरुड (बाँस का काम करने वाले) एवं रजक को ही शामिल किया था। शेष आदिवासी जन-जातियाँ कैवर्त, मेद, भिल्ल एवं नट हैं। 11वीं शताब्दी में अल्बेरूनी ने शिल्पियों एवं कारीगरों की चार जातियों—धोबी, चर्मकार, जुलाहा और डलिया एवं ढाल बनाने वालों—को अन्त्यज की कोटि में पाया था। पर 13वीं शताब्दी में हेमाद्रि ने चतुर्वर्गचिन्तामणि में शिल्पियों एवं कारीगरों की सात अन्त्यज जातियों—तक्षक (बढ़ई), स्वर्णकार, सौचिक (दर्जी), तिलयन्त्री (तैलिक), ध्वजी (शराब बनाने एवं बेचने वाले), लोहकार, एवं नापित—की तालिका दिया। देवणभट्ट (13वीं शताब्दी) की स्मृति-चन्द्रिका में सभी अष्टादश श्रेणियों, जो अधिकांश शिल्पियों एवं कारीगरों की थीं, को हीन जातियाँ मान लिया गया। शिल्पियों एवं कारीगरों के समुदायों को अन्त्यज की कोटि में परिगणित करने के सम्बन्ध में क्षेत्रीय विभेद मिलते हैं। उदाहरणार्थ, जुलाहों को केवल वेद-व्यास स्मृति एवं अल्बेरूनी के विवरण में ही अन्यज बताया गया है। स्पृश्यापृश्य के आधार पर शिल्पियों के विभाजन की प्रवृत्ति कुछ जैन ग्रन्थों—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति एवं जिनसेनाचार्य के महापुराण—में मिलती है। इनके जाति-समुदायों में ऊँच-नीच का अनुक्रम स्थापित करने के साक्ष्य, विशेष रूप से, बंगाल के क्षेत्र में रचित बृहन्नारदीय पुराण एवं बृहद्धर्म पुराण (13वीं शताब्दी) से उपलब्ध होते हैं। पर इन पुराणों में मिलने वाली

तालिकाओं से यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के वर्गीकरण में क्षेत्रीय एवं स्थानीय अन्तर होते थे। इस सब के बावजूद इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि कभी-कभी सामाजिक अनुक्रम में निम्न स्तर पर माने जाने वाले शिल्पी एवं कारीगर भी आर्थिक सम्पन्नता एवं राजाओं की कृपा प्राप्त कर सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेते थे।

गुप्तोत्तर काल में मन्दिर-निर्माण की परम्परा का काफी विकास हुआ। इससे सम्बन्धित शिल्पियों एवं कारीगरों के समुदाय का भी विस्तार हुआ। विभिन्न शिल्पी एवं कारीगर मन्दिरों को दान देते थे और पूर्व मध्यकाल के द्वितीय चरण में उनमें से समृद्ध लोग मन्दिर-निर्माण भी कराते थे। पर कभी-कभी मन्दिर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये शासकों द्वारा शिल्पियों एवं कारीगरों पर कर भी लगा दिये जाते थे अथवा उन्हें दान देने के लिये आदेशित कर दिया जाता था। कभी-कभी राजा शिल्पियों एवं कारीगरों को मन्दिर की सेवा के लिए समर्पित भी कर देते थे।

बृहत्पराशर-संहिता तथा कुछ अन्य स्रोतों से किसानों द्वारा गाँव के शिल्पियों एवं कारीगरों को, उनके प्रत्येक कार्य के लिये मजदूरी न देकर उसके स्थान में, हर फसल से मिलने वाली अनाज-राशि में से, खलिहान में, अलग-अलग अंश आबंटित करने की प्रथा पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रथा ने पूर्व मध्यकाल के प्रथम चरण में कृषि-प्रधान रुद्ध ग्रामीण अर्थव्यवस्था में अपना संस्थागत रूप प्राप्त किया। धीरे-धीरे यह प्रथा जाति-व्यवस्था से संयुक्त होकर बद्धमूल हो गयी। बाद के कालों में, अर्थ-व्यवस्था के उन्नयन एवं विकास के बावजूद, गाँवों में इसका प्रचलन कुछ हद तक बना रहा। भारत के एक बड़े भूभाग में यह उस ग्रामीण सामाजिक अर्थ-व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग बन गयी, जिसे बहुत से विद्वानों ने बीसवीं शताब्दी के प्रथमार्ध में 'जजमानी' व्यवस्था का नाम दिया।

शिल्पियों एवं कारीगरों की स्थिति के अध्ययन में उनके धार्मिक झुकाव एवं धर्मावलम्बन तथा विभिन्न धर्मों के उनके प्रति दृष्टिकोणों पर भी विचार करना अपेक्षित समझा गया है। वैदिक काल में त्वष्टा एवं ऋभुस् नामक देवताओं की अवधारणाएँ शिल्पियों के रूप में की गयी थीं। पर इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता कि उस काल में विशेष रूप से शिल्पी ही उनकी उपासना करते थे। उत्तर वैदिक काल में शिल्पियों को शूद्र वर्ण के अन्तर्गत माना जाने लगा और तैत्तिरीय संहिता के अनुसार उन्हें वैदिक यज्ञ के अनुष्ठान का अधिकार नहीं था। पर तैत्तिरीय ब्राह्मण में रथकार को इसका अधिकारी माना गया है। छठी शताब्दी ईसवी पूर्व के धार्मिक एवं दार्शनिक आन्दोलन में वैदिक परम्परा के विरोधी बुद्ध, महावीर आदि के अतिरिक्त आजीविकों की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। इस काल में आजीविक सम्प्रदाय के धर्माचार्य मक्खलि गोसाल थे। मुख्य रूप से कुम्भकार इनके अनुयायी बने और उन्होंने इस सम्प्रदाय के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान किया। इस सम्प्रदाय की नियतिवाद-प्रधान शिक्षाओं में कोई विशेष धार्मिक आकर्षण नहीं था, किन्तु फिर भी कुम्भकार इसके प्रति आकर्षित हुये। छठी शताब्दी ई०पू० के काल तक वर्ण-व्यवस्था के अनुक्रम में निम्नतम माने जाने वाले शूद्रों, जिनमें शिल्पियों के भी समुदाय शामिल थे, पर काफी हद तक आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएँ आरोपित हो चुकी थीं। प्राचीन बौद्ध पालि ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि शूद्र शिल्पियों के अन्तर्गत भी कुम्भकार हीन शिल्प (हीन सिप्प) से सम्बन्धित माने जाते थे। ऐसी स्थिति में यह प्रतीत होता है कि आजीविक सम्प्रदाय के चातुर्वर्ण्य-निरपेक्ष उदार सामाजिक दृष्टिकोण के कारण सामाजिक प्रतिष्ठा के उत्कर्ष की आशा से भी कुम्भकार इसके प्रति आकर्षित हुये होंगे।

आजीविक सम्प्रदाय में वणिक आदि अन्य वर्गों के लोग भी थे, पर इसका विशेष सम्बन्ध कुम्भकारों से ही था। भगवती सूत्र से ज्ञात होता है कि मक्खलि गोसाल को श्रावस्ती में उसकी अनुयायी हालाहला नामक एक समृद्ध कुम्भकार स्त्री ने सोलह वर्ष तक आश्रय प्रदान किया था। मक्खलि गोसाल ने उसी की कुम्भकार-कार्यशाला को अपना मुख्यालय बनाया था। उवासग दसाओ से ज्ञात होता है कि पोलासपुर का सद्दालपुत्त नामक एक अत्यन्त समृद्ध कुम्भकार भी हालाहला की भाँति इस सम्प्रदाय का सामान्य उपासक था। वायु पुराण के साक्ष्य से यह संकेत मिलता है कि कुम्भकारों के अतिरिक्त कुछ अन्य शिल्प-समुदाय भी इस सम्प्रदाय से जुड़े

थे। मौर्य काल के बाद इस सम्प्रदाय का हास होने लगा, पर उत्तर भारत में वराहमिहिर के काल (5वीं-6वीं शताब्दी) तक इसकी परम्परा चलती रही। दक्षिण भारत में तो 14वीं शताब्दी तक इसके प्रचलित रहने का साक्ष्य मिलता है।

वैदिक परम्परा के विरोधी बौद्ध एवं जैन धर्मों का भी उदय छठी शताब्दी ई०पू० के धार्मिक एवं दार्शनिक आन्दोलन में हुआ। शिल्पियों एवं कारीगरों द्वारा बौद्ध धर्म का अवलम्बन किये जाने की प्रारम्भिक जानकारी प्राचीन बौद्ध पालि-ग्रन्थों से मिलती है। इन लोगों के अधिक उल्लेख नहीं मिलते, लेकिन जो मिलते हैं वे महत्त्वपूर्ण हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के अनुयायियों में इनकी संख्या काफी रही होगी। सामाजिक स्तरीकरण के प्रति बौद्ध धर्म का दृष्टिकोण उदार था। इसमें इस धर्मशास्त्रीय व्यवस्था को निराकृत किया गया है कि शूद्रों— जिनमें अधिकांश शिल्पी एवं कारीगर भी आते थे— का धर्म सामाजिक अनुक्रम में अपने से ऊपर के वर्णों के लोगों की सेवा करना है। ऐसी स्थिति में शिल्पी एवं कारीगर, जो कई प्रकार की निर्योग्यताओं के शिकार थे, बौद्ध धर्म के प्रति भी विशेष रूप से आकर्षित हुये होंगे। नापित उपालि को बुद्ध ने स्वयं अपने धर्म में दीक्षित किया था। उपालि विनय (मठ-विषयक अनुशासन के नियमों) में सबसे अधिक पारंगत हो गये थे। इन्हीं की सहायता से महाकस्सप ने बौद्ध धर्म की प्रथम महासंगीति में संघ के अनुशासन-सम्बन्धी नियमों को विनय पिटक के रूप में संहिताबद्ध किया था। बुद्ध ने पावा में रहने वाले कम्मर-पुत्त (धातु का काम करने वाले शिल्पकार) चुन्द के यहाँ अपना अन्तिम भोजन ग्रहण किया था। चुन्द काफी समृद्ध था। इसके द्वारा बुद्ध के लिये आम्रवन में एक विहार बनवाने का उल्लेख मिलता है। विनय पिटक में धनिय कुम्भकार का नाम मिलता है, जो बौद्ध भिक्षु बन गया था। मज्झिम निकाय में घटिकार कुम्भकार का उल्लेख है। यह कस्सप बुद्ध का उपासक बताया गया है। इससे स्पष्ट है कि कुम्भकार लोग आजीविक सम्प्रदाय के अतिरिक्त बौद्ध धर्म के प्रति भी आकर्षित हुये। शिल्पियों के बौद्ध धर्म से प्रभावित होने के साक्ष्य मौर्योत्तर काल के अनेक अभिलेखों में भी मिलते हैं। इनमें उनके धार्मिक दानों के उल्लेख हैं। शिल्पियों एवं कारीगरों के जैन धर्म के प्रति भी आकर्षण का अभिलेखीय साक्ष्य मिलता है।

गुप्त काल एवं गुप्तोत्तर काल में पौराणिक धर्म का विकास एवं प्रचार-प्रसार हुआ। पौराणिक परम्परा में भक्ति का विशेष महत्त्व था। इस परम्परा में वैष्णव, शैव, शाक्त एवं सौर धारायें विकसित हुयीं। इन धार्मिक

धाराओं में वर्ण-जाति-व्यवस्था के प्रति दृष्टिकोण उदार था और इनमें शूद्रों- जिनमें शिल्पकार भी थे- के धार्मिक अधिकारों को बढ़ाया गया। शिल्पियों एवं कारीगरों के इन सभी धाराओं से जुड़ने के साक्ष्य मिलते हैं।

पूर्व मध्य काल में 9वीं-10वीं शताब्दी से 12वीं शताब्दी की कालावधि में सिद्धों के सहजयान आन्दोलन का काफी धार्मिक एवं सामाजिक महत्त्व था। इस आन्दोलन के प्रवर्तक सरहपाद थे, जो ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुये थे और सिद्धों के आदि पुरुष माने गये हैं। इन्होंने नालन्दा में शिक्षा प्राप्त की थी, पर ये बाण बनाने का कारुक-कर्म करते थे और इसीलिए इनका नाम सरह (सरहपाद) पड़ गया। चौरासी सिद्धों की परम्परा में निम्नतम वर्गों एवं समुदायों से उद्भूत लोगों का प्राधान्य मिलता है। इन सिद्धाचार्यों में सात या आठ विभिन्न शिल्पि-समुदायों में उत्पन्न हुये बताये गये हैं। ये जन्मना तन्तुवाय, चर्मकार, धोबी, लोहार, दर्जी आदि थे। सिद्धाचार्यों की तालिका में 19 सिद्धों को केवल शूद्र बताया गया है और उनके व्यवसायों का उल्लेख नहीं किया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वणिक आदि भी इस तालिका में मिलते हैं। ये सिद्धाचार्य भारत के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित थे। सिद्धों ने पारम्परिक सामाजिक व्यवस्था की, ऊँच-नीच के अनुक्रम पर आधारित, असमानता का विरोध किया; कर्मकाण्ड, तपस्या, मन्त्र-तन्त्र आदि को नकार दिया; तथा दानशीलता एवं लोक-कल्याण पर विशेष बल देते हुये भोग में योग एवं अनासक्ति के मार्ग का उपदेश लोक-भाषा में दिया।

शाक्त-तान्त्रिक धाराओं की भी पूर्व मध्य काल के धार्मिक जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। तान्त्रिक धर्म से निम्न जातियों एवं व्यावसायिक समुदायों के लोग विशेष रूप से सम्बन्धित थे, जिनमें शिल्पी एवं कारीगर भी थे। कुब्जिका-तन्त्र की उत्पत्ति कुम्भकारों के समुदाय में ही मानी गयी है। तन्त्र-ग्रन्थों में हम सामान्यतः जाति-व्यवस्था की उपेक्षा, एक समतावादी सामाजिक दृष्टिकोण एवं वैदिक पद्धति की आलोचना पाते हैं। पूर्व मध्यकाल में उत्तरी भारत की तुर्क-विजय के पहले ही कुछ लोग इस्लाम धर्म के सम्पर्क में आकर उससे प्रभावित होने लगे। पश्चिमी भारत में कुछ जुलाहों- जो समाज के निम्न स्तर से सम्बन्धित थे- के इस्लाम धर्म ग्रहण करने का भी साक्ष्य मिलता है।

चयनित स्रोत-सूची

मूल स्रोत

मूल स्रोत-ग्रन्थ

अथर्ववेद, अनुवादक आर०टी०एच० ग्रिफिथ, जिल्दे 2, बनारस, 1916-17.

अपराजितपृच्छा, सम्पादक पी०ए० मनकड, गायकवाड ओरियन्टल सिरीज, बड़ौदा, 1950.

अर्थशास्त्र-कौटिल्य कृत : कौटिल्यस् अर्थशास्त्र, सम्पादक एवं अनुवादक आर० शामशास्त्री, मैसूर, 1929. कौटिलीयमर्थशास्त्रम् (टी० गणपति शास्त्री की श्रीमूला व्याख्या एवं कुछ अन्य व्याख्याओं सहित), सम्पादक विश्वनाथ शास्त्री दातार, भाग 1 एवं 2, वाराणसी, 1991. कौटिलीय अर्थशास्त्र, सम्पादक एवं अनुवादक आर०पी० कांगले, द्वितीय संस्करण, भाग 1 एवं 2, बम्बई, 1969.

अभिधान-चिन्तामणि - हेमचन्द्र (12वीं शताब्दी) कृत, सम्पादक एवं अनुवादक नेमिचन्द्र शास्त्री, वाराणसी, 1964.

अमरकोश - (नामलिङ्गानुशासन, क्षीरस्वामी की टीका सहित), सम्पादक हरदत्त शर्मा एवं एन० जी० सरदेसाई, पूना, 1947.

अष्टाध्यायी - पाणिनि कृत, रोमन लिप्यन्तरण एवं अंग्रेजी अनुवाद सुमित्र एम० कात्रे द्वारा, दिल्ली, 1989.

आपस्तम्ब, गौतम, वसिष्ठ एवं बौधायन के धर्मसूत्रों का जी० ब्यूहलर द्वारा अंग्रेजी अनुवाद, आक्सफोर्ड, 1879-82.

- आपस्तम्ब धर्मसूत्र, सम्पादक एवं अनुवादक उमेशचन्द्र पाण्डेय, काशी संस्कृत सिरीज, वाराणसी।
- ऐतरेय ऐण्ड कौषीतकि ब्राह्मणस् आफ दि ऋग्वेद, अनुवादक ए० बी० कीथ, हर्वर्ड ओरियंटल सिरीज, 1920.
- ऋग्वेद संहिता, सम्पादक मैक्समूलर, आक्सफोर्ड, 1980; आर० टी० एच० ग्रिफिथ द्वारा अनूदित, बनारस, 1891; सम्पादक श्रीपाद सातवलेकर, पारडी (वि० सुरत), 1957.
- अंगविज्जा, सम्पादक मुनि श्री पुण्य विजय, प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, बनारस, 1957.
- अंगुत्तरनिकाय, 5 जिल्दें, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, 1885-1900; अनुवाद, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, 1932-36.
- कथाकोश-प्रकरण – जिनेश्वर सूरि कृत, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, 1949.
- कलाविलास – क्षेमेन्द्र (11वीं शताब्दी) कृत, काव्यमाला, भाग 1.
- कात्यायन-स्मृति-सारोद्धार (कात्यायन स्मृति), सम्पादक पी० वी० काणे, ओरियंटल बुक एजेन्सी, पूना।
- कामसूत्र – वात्स्यायन कृत (जयमंगला टीका सहित), सम्पादक देवदत्त शास्त्री, वाराणसी, 1964.
- काशिका (टीका) – वामन-जयादित्य कृत, सम्पादक आर्येन्द्र शर्मा एवं अन्य, हैदराबाद, 1969.
- कृत्यकल्पतरु – व्यवहारकाण्ड- लक्ष्मीधर कृत, सम्पादक के० वी० आर० आरंगर, बड़ौदा, 1953.
- गोपथ ब्राह्मण, सम्पादक आर० एल० मित्रा, कलकत्ता, 1872.
- गौतम धर्मसूत्र, सम्पादक एवं अनुवादक उमेशचन्द्र पाण्डेय, काशी संस्कृत सिरीज, वाराणसी।
- चतुर्वर्ग-चिन्तामणि (प्रायश्चित्त-काण्ड) – हेमाद्रि कृत, एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, 1921.
- जातक, सम्पादक फॉसबोल, 7 जिल्दें, लन्दन, 1877-97; कावेल के सम्पादन में अनेक विद्वानों द्वारा अनूदित, कैंब्रिज, 1895-1907.
- जैमिनीय ब्राह्मण, सम्पादक रघुवीर एवं लोकेश चन्द्र, नागपुर, 1954.
- तैत्तिरीय ब्राह्मण (कृष्ण यजुर्वेद का), सम्पादक आर० एल० मित्रा, 3 जिल्दें, कलकत्ता, 1859-70.

दि मिलिन्दपञ्चो, सम्पादक वी० ट्रेकनर, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, 1928. अंग्रेजी अनुवाद : दि
क्वेशचन्स आफ किंग मिलिन्द, टी० डब्ल्यू० रिस डेविड्स द्वारा, सेक्रिड बुक्स आफ दि
ईस्ट, जिल्द 35 एवं 36; मिलिन्दस् क्वेशचन्स, आई० बी० हार्नर द्वारा, जिल्द 1 एवं 2,
लन्दन, 1969.

दीघनिकाय, सम्पादक टी० डब्ल्यू० रिस डेविड्स एवं जे० ई० कारपेंटर, 3 जिल्दें, पालि टेक्स्ट
सोसाइटी, लन्दन, 1890-1911. अनुवादक : टी० डब्ल्यू० रिस डेविड्स, 3 जिल्दें, लन्दन,
1899-1921; राहुल सांकृत्यायन एवं भिक्षु जगदीश कश्यप, सारनाथ (बनारस), 1936.

देवी भागवत पुराण, पण्डित पुस्तकालय, वाराणसी, विक्रम संवत् 2019.

देसी नाममाला – हेमचन्द्र रचित, सम्पादक आर० पिशेल, द्वितीय संस्करण, विजियानगरम, 1938.

धर्मशास्त्रसंग्रहः, सम्पादक जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, 1876.

नारद स्मृति, सम्पादक जे० जॉली, कलकत्ता, 1885.

पंचतंत्र, सम्पादक एम० आर० काले, द्वितीय संस्करण, दिल्ली, 1969.

पंचविश ब्राह्मण, सम्पादक आनन्दचन्द्र वेदान्तवागीश, कलकत्ता, 1874; अनुवादक डब्ल्यू० केलाण्ड,
कलकत्ता, 1931.

बाल्मीकि-रामायण, सम्पादक जी० एच० भट्ट, 7 जिल्दें, बड़ौदा, 1960-1975.

बौधायन धर्मसूत्र, सम्पादक एवं अनुवादक उमेशचन्द्र पाण्डेय, काशी संस्कृत सिरीज, वाराणसी।

बृहज्जातक – वराहमिहिर-कृत, भट्टोत्पल (10वीं शताब्दी) की टीका सहित, सम्पादक एवं अनुवादक
सीताराम झा, वाराणसी, विक्रम संवत् 2031.

बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह (बुद्धस्वामिन्-रचित), सम्पादक एवं टीकाकार वासुदेव शरण अग्रवाल,
वाराणसी, 1974.

बृहत्संहिता – वराहमिहिर कृत, भट्टोत्पल (10वीं शताब्दी) की टीका सहित, भाग 1 एवं 2, सम्पादक
अवध विहारी त्रिपाठी, वाराणसी, 1968.

बृहन्नारदीय पुराण, सम्पादक एच० शास्त्री, एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, 1891.

बृहस्पति स्मृति, सम्पादक के० वी० आर० आर्यंगर, ओरियंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, 1941; जॉली द्वारा
अनूदित, सेक्रिड बुक्स आफ दि ईस्ट, जिल्द 23.

भागवत महापुराण, दो खण्ड, गीता प्रेस, गोरखपुर।

भारुचिस् कॉमेंटरी आन दि मनुस्मृति, सम्पादक एवं अनुवादक जे० डी० एम० डेरेट, जिल्द 1 (मूल)
एवं 2 (अंग्रेजी अनुवाद), वीसबेडेन, 1975.

मज्झिम निकाय, सम्पादक वी० ट्रेंकनर एवं आर० चामर्स, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, 3 जिल्दे, लन्दन,
1888-1896; अनुवादक लार्ड चामर्स, 2 जिल्दे, लन्दन, 1926-7.

मनुस्मृति, सम्पादक गंगानाथ झा, कलकत्ता, 1932.

— (विभिन्न टीकाओं सहित), सम्पादक वी० एन० मांडलिक, बम्बई, 1886.

— दि लाज आफ मनु, जी० ब्यूहलर द्वारा अंग्रेजी अनुवाद, सेक्रिड बुक्स आफ दि ईस्ट सिरीज,
जिल्द 25.

— दि लाज आफ मनु, वेंडी डोनीगर एवं ब्रिअन के० स्मिथ द्वारा अंग्रेजी अनुवाद, पेंग्विन
क्लैसिक्स, 1991.

मयमतम्, सम्पादक टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, 1919.

महाभारत— शान्तिपर्व, भण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, 1950.

— आदिपर्व, सम्पादक वी० एस० सुकथंकर, पूना, 1927-33.

— अरण्यपर्व, सम्पादक वी० एस० सुकथंकर, पूना, 1941-42.

महाभाष्य— पाणिनि की अष्टाध्यायी पर पतंजलि-कृत; सम्पादक कीलहार्न, बम्बई, 1880-85.

महावस्तु अवदान, सं० राधागोविन्द बसाक, जिल्दे 1, 2 एवं 3, कलकत्ता, 1963, 1965 एवं 1968.

मानसोल्लास— सोमेश्वर-कृत (12वीं शताब्दी), गायकवाड ओरियंटल सिरीज, जिल्द 1, बड़ौदा,
1926.

मैत्रायणी संहिता, सम्पादक लिओपोल्ड फ़ान श्रोएडर, लीपज़िग, 1923.

- यशस्तिलक-चम्पू – सोमदेव कृत, सम्पादक एवं अनुवादक सुन्दरलाल शास्त्री, वाराणसी, 1971.
- याज्ञवल्क्य स्मृति (विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा टीका सहित), अनुवादक उमेश चन्द्र पाण्डेय, वाराणसी, 1967.
- युग पुराण, सम्पादक डी० आर० मनकड, चारुतर प्रकाशन, वल्लभ विद्यानगर, 1951.
- युक्तिकल्पतरु– भोज कृत, सम्पादक ईश्वर चन्द्र शास्त्री, कलकत्ता, 1917.
- रघुवंश– कालिदास कृत, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1929.
- रसरत्न-समुच्चय, आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना।
- राजतरंगिणी– कल्हण-कृत, सम्पादक एम० ए० स्टाइन, बम्बई, 1892; अनुवादक वही, वेस्टमिंस्टर, 1900.
- लेखपद्धति, सम्पादक सी० डी० दलाल, बड़ौदा, 1925.
- वज्रसूची – सम्पादक सुजित कुमार मुखोपाध्याय, विश्व भारती, शान्ति निकेतन, 1960.
- वाजसनेयि संहिता, सम्पादक ए० वेबर, लन्दन, 1899.
- वायु पुराण, नाग पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1983.
- विनय पिटक, सम्पादक एच० ओल्डेनबर्ग, 5 जिल्दे, लन्दन, 1879-83; अनुवादक आई० बी० हार्नर, 5 भाग, लन्दन, 1938-52.
- वैजयन्तीकोष – यादवप्रकाश कृत, सम्पादक हरगोविन्द शास्त्री, वाराणसी, 1971.
- विश्वप्रकाशकोश– महेश्वरसूरि कृत, सम्पादक शीलस्कन्ध स्थविर एवं रत्नगोपाल भट्ट, वाराणसी, 1983.
- शतपथ ब्राह्मण (सायण एवं हरिस्वामिन् के भाष्यों सहित), लक्ष्मी वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, 1940; जे० एग्लिंग द्वारा अनूदित, भाग 1-5, आक्सफोर्ड, 1882-1900.
- शाकटायन व्याकरण, सम्पादक शम्भुनाथ त्रिपाठी, वाराणसी, 1971.
- शिक्षा-समुच्चय – शान्तिदेव-कृत, सी० वेन्डाल एवं डब्ल्यू० एच० डी० राउजे कृत अंग्रेजी अनुवाद, लन्दन, 1922.

समन्त-पासादिका – बुद्धघोस-कृत, जिल्द 2, नवनालन्दा महाविहार प्रकाशन, पटना, 1965.

समरांगणसूत्रधार – भोजकृत, गायकवाड ओरियंटल सिरीज, बड़ौदा, 1966.

साम्ब पुराण, अनुवादक विनोद चन्द्र श्रीवास्तव, इलाहाबाद, 1975.

सारावली – कल्याण वर्मा कृत, सम्पादक एवं अनुवादक मुरलीधर चतुर्वेदी, वाराणसी, 1977.

संदेशरासक – अब्दुल रहमान (12वीं शताब्दी) कृत, सिंधी जैन ग्रन्थ माला, 1945.

स्मृतिचन्द्रिका – देवण्णभट्ट कृत, सम्पादक एल० श्रीनिवासाचार्य, मैसूर, 1914.

स्मृतीनां समुच्चयः, सम्पादक वी० जी० आपटे, पूना, 1929.

स्मृति-संदर्भ, जिल्द 1 एवं 2, दिल्ली, 1988.

हलायुधकोश (अभिधान-रत्न-माला) : द्वितीय संस्करण, सम्पादक जयशंकर जोशी, हिन्दी समिति, लखनऊ, 1967.

हर्षचरित-- बाण-कृत, ई० बी० काँवेल एवं एफ० डब्ल्यू० थॉमस कृत अंग्रेजी अनुवाद, लन्दन 1897.

हिस्ट्री आफ इंडिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, अनुवादक एच० एम० इलियट एवं जे० डाउसन, जिल्द 1, लन्दन, 1886; जिल्द 2, अलीगढ़ संस्करण, अलीगढ़, 1952.

त्रिषष्टि – श्लाका-पुरुष-चरित महाकाव्य – हेमचन्द्र कृत, श्री जैन आत्मानन्द शताब्दी सिरीज, नम्बर 7 (1936) एवं 8 (1950).

अभिलेख

फ्लीट, जे० एफ०, इंस्क्रिप्शन्स आफ दि अली गुप्त किंग्स, कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्, जिल्द 3, लन्दन, 1888.

मिराशी, वी० वी०, इंस्क्रिप्शन्स आफ दि कलचुरि-चेदि ईरा, कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्, जिल्द 4, 2 भाग, ऊटकमण्ड, 1955.

लूडर्स लिस्ट, एपिग्राफिआ इंडिका, जिल्द 10.

सरकार, डी० सी०, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स बियरिंग आन इंडियन हिस्ट्री ऐण्ड सिविलाइजेशन, 2 जिल्दे,
कलकत्ता, 1942, 1982; इंडियन एपिग्राफिकल ग्लॉसरी, दिल्ली, 1966.

विदेशी विवरण

मजूमदार, रमेश चन्द्र (संकलकर्ता), दि क्लैसिकल अँकाउन्ट्स आफ इंडिया, कलकत्ता, 1960.

मैक्रिंडिल, जे० डब्ल्यू०, एन्शेंट इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन क्लैसिकल लिटरेचर, वेस्टमिंस्टर, 1901.

—, एन्शेंट इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज ऐण्ड एरियन, कलकत्ता, 1926.

यूल, हेनरी, दि बुक आफ सेर मार्को पोलो, संशोधित संस्करण, जिल्द 2, लन्दन, 1920.

वाटर्स, टी०, आन युवान च्वांग्स ट्रैवल्स इन इंडिया, 2 जिल्द, लन्दन, 1904, 1905.

सखाउ, एडवर्ड सी० (सम्पादक एवं अनुवादक), अल्बेरूनीज इंडिया, जिल्दे 1 एवं 2, लन्दन, 1914.

आधुनिक कोश एवं सन्दर्भ-ग्रन्थ

जोशी, लक्ष्मणशास्त्री, धर्मकोश, जिल्द 1, भाग 2, वर्ड (जनपद सतारा, महाराष्ट्र), 1938.

झलकीकर, भीमाचार्य, न्यायकोश, पूना, 1978.

मललसेकर, जी० पी०, ए डिक्शनरी आफ पालि प्रापर नेम्स, 2 जिल्दे, आक्सफोर्ड, 1937-38.

मैकडानल, ए० ए० ऐण्ड कीथ, ए० बी०, वेदिक इण्डेक्स आफ नेम्स ऐण्ड सब्जेक्ट्स, 2 भाग,
लन्दन, 1912; “वैदिक इण्डेक्स” शीर्षक के अन्तर्गत राजकुमार राय द्वारा हिन्दी अनुवाद, 2
भाग, वाराणसी, 1962.

मोनियर विलियम्स, एम०, ए संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पुनर्मुद्रित, दिल्ली, 1976.

रिस डेविड्स, टी० डब्ल्यू० ऐण्ड स्टीड, विलियम, पालि-इंग्लिश डिक्शनरी, प्रथम भारतीय संस्करण,
नई दिल्ली, 1975.

सेलिग्मन, एडविन आर० ए० (सम्पादक), एनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइंसेज़, जिल्द 1, पुनर्मुद्रित, न्यू यार्क, 1962; जिल्द 4, न्यू यार्क, 1963.

सेठ, हरगोविन्ददास त्रिकमचंद, पाइअसद्महण्णवो, प्राकृत ग्रन्थ परिषद, वाराणसी, 1963.

सहायक स्रोत - आधुनिक शोध-ग्रन्थ

अच्छे लाल, प्राचीन भारत में कृषि, वाराणसी, 1980.

अन्तोनोवा, के०; लेविन-बोनगार्ड, जी० एवं कोटव्सकी, जी० द्वारा सम्पादित, ए हिस्ट्री आफ इंडिया, मास्को, 1979.

आप्टे, वी० एम०, सोशल ऐण्ड रिलिजस लाइफ इन दि गृह्यसूत्रस्, बम्बई, 1954.

अल्तेकर, ए० एस०, एजुकेशन इन एन्शेंट इंडिया, वाराणसी, 1975.

अग्रवाल, वासुदेव शरण, इंडिया ऐज नोन टु पाणिनि, लखनऊ, 1953.

आचार्य, पी० के०, मानसार, ऐन एनसाइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1946.

आध्या, जी० एल०, अर्ली इंडियन इकोनॉमिक्स - स्टडीज इन दि ईकोनॉमिक लाइफ आफ नार्दर्न ऐण्ड वेस्टर्न इंडिया (लगभग 200 ई० पू०-300 ई०), बम्बई, 1966.

उपाध्याय, जगदम्बा प्रसाद, मेटल इम्प्लिमेंट्स इन एन्शेंट इंडिया फ्राम अर्लियस्ट टाइम्स अप टु सर्का सेकन्ड सेंचुरी बी० सी०, दिल्ली, 2000.

ओझा, ए० पी०, प्राचीन भारत में सामाजिक स्तरीकरण, इलाहाबाद, 1992.

ओम प्रकाश, अर्ली इंडियन लैण्ड ग्रान्ट्स ऐण्ड स्टेट इकॉनमी, इलाहाबाद, 1988.

काणे, पी० वी०, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जिल्द 1, भाग 1, पूना, 1968; जिल्द 2, भाग 1, पूना, 1941.

कामेश्वर प्रसाद, सिटीज, क्राफ्ट्स ऐण्ड कामर्स अंडर दि कुषाणस्, दिल्ली, 1984.

कांगले, आर० पी०, कौटिलीय अर्थशास्त्र, भाग 3 — ए स्टडी, बम्बई, 1969.

कुमारस्वामी, आनन्द के०, दि इंडियन क्राफ्ट्समैन, द्वितीय संस्करण, नई दिल्ली, 1989 (प्रथम प्रकाशन, 1909)।

कोसम्बी, डी० डी०, दि कल्चर एण्ड सिवलाइजेशन ऑफ एन्शेंट इंडिया इन हिस्टारिकल आउटलाइन, नई दिल्ली, 1976.

गुप्त, परमेश्वरी लाल, क्वाइन्स, नई दिल्ली, 1969.

गोपाल, लल्लन जी, इकोनामिक लाइफ आफ नार्दर्न इंडिया--लगभग 700-1200 ई०, दिल्ली, 1965.

घोष ए०, दि सिटी इन अर्ली हिस्टारिकल इंडिया, शिमला, 1973.

घोषाल, यू० एन०, स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर, बम्बई, 1957.

चक्रवर्ती, उमा, दि सोशल डाइमेंशन्स् आफ अर्ली बुद्धिज्म, दिल्ली, 1987.

चट्टोपाध्याय, बी० डी० (सम्पादक), एसेज इन एन्शेंट इंडियन ईकोनॉमिक हिस्ट्री, दिल्ली, 1987.

चतुर्वेदी, प्रेम सागर, टेकनॉलोजी इन वेदिक इंडिया, नई दिल्ली, 1993.

चानना देवराज, स्लेवरी इन एन्शेंट इंडिया, नई दिल्ली, 1960.

जैन, कैलाश चन्द्र, एन्शेंट सिटीज ऐण्ड टाउन्स आफ राजस्थान, दिल्ली, 1972.

जैन, जे० सी०, लाइफ इन एन्शेंट इंडिया ऐज डिपिक्टेड इन दि जैन कैनन, बम्बई, 1947.

जैन, पुरुषोत्तम चन्द्र, लेवर इन एन्शेंट इंडिया, दिल्ली, 1971.

झा, डी० एन०, रेवेन्यू सिस्टम इन पोस्ट-मौर्य एण्ड गुप्त टाइम्स, कलकत्ता, 1967.

झा, विवेकानन्द, “स्टेजेस् इन दि हिस्ट्री आफ अनटचेबिलिटी”, दि इंडियन हिस्टारिकल रिव्यू, जिल्द 2, नम्बर 1.

ठाकुर, विजय कुमार, अरबनाइजेशन इन एन्शेंट इंडिया, नई दिल्ली, 1981.

— (सम्पादक), टाउन्स इन प्री-माडर्न इंडिया, पटना, 1994.

थपल्याल, किरन कुमार, गिल्ड्स इन एन्शेंट इंडिया, नई दिल्ली, 1996.

थापर, रोमिला, एन्शेंट इंडियन सोशल हिस्ट्री, नई दिल्ली, 1978.

दास, एस० के०, दि ईकोनॉमिक हिस्ट्री आफ एन्शेंट इंडिया, पुनर्मुद्रित, इलाहाबाद, 1980.

पाटिल, डी० आर०, कल्चरल हिस्ट्री फ्राम दि वायु पुराण, पूना, 1946.

पांडे, गोविन्द चन्द्र, स्टडीस् इन दि ऑरिजिन्स आफ बुद्धिज्म, इलाहाबाद, 1957; फाउंडेशन्स आफ इंडियन कल्चर, द्वितीय संस्करण, जिल्दे 1 एवं 2, दिल्ली, 1990; वैदिक संस्कृति, इलाहाबाद, 2001.

पाण्डेय, जयनारायण, पुरातत्त्व विमर्श, पंचम संस्करण, इलाहाबाद, 1997; भारतीय कला एवं पुरातत्त्व, सप्तम संस्करण, इलाहाबाद, 1999.

पाल, एम० के०, क्राफ्ट्स ऐण्ड क्राफ्ट्समेन इन ट्रेडिशनल इंडिया, नई दिल्ली, 1978.

पिगट, स्टुअर्ट, प्री-हिस्टॉरिक इंडिया, पेंग्युइन बुक्स, 1952.

पिरेन, हेनरी, इकोनॉमिक ऐण्ड सोशल हिस्ट्री आफ मेडीवल यूरोप, लन्दन, 1949.

पुरी, बैजनाथ, इंडिया इन दि टाइम आफ पतंजलि, बम्बई, 1957.

प्रसाद, पी० सी०, फारिन ट्रेड ऐण्ड कामर्स इन एन्शेंट इंडिया, दिल्ली, 1977.

फ्रिक, रिचर्ड, सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ-ईस्ट इंडिया इन बुद्धिस् टाइम, पुनर्मुद्रित, वाराणसी, 1972.

फिनले, एम० आई०, दि एन्शेंट इकॉनॉमी, लन्दन, 1973.

बनर्जी, सुरेश चन्द्र, धर्मसूत्रस्, कलकत्ता, 1962.

ब्राउन, पर्सी, इंडियन आर्किटेक्चर (बुद्धिस्ट ऐण्ड हिन्दू), तृतीय संस्करण, बम्बई, 1956.

बागची, पी० सी०, स्टडीज इन दि तन्त्रस्, कलकत्ता, 1939.

बाजपेयी, रंजना, इंडिया इन दि सेविन्थ सेंचुरी ए० डी०, नई दिल्ली, 1992.

- बाशम, ए० एल०, हिस्ट्री ऐण्ड डाक्ट्रिन्स आफ दि आजीविकस्, पुनर्मुद्रित, दिल्ली, 1981; दि वन्डर
 डैट वाज इंडिया, न्यू यार्क, 1954.
- बीडेलमैन, टी०ओ०, ए कम्पैरिटिव अनैलिसिज आफ दि जजमानी सिस्टम, न्यू यार्क, 1959.
- बुद्ध प्रकाश, ऐस्पेक्ट्स आफ इंडियन हिस्ट्री ऐण्ड सिविलाइजेशन, आगरा, 1965.
- बोस, अतीन्द्र नाथ, सोशल ऐण्ड रूरल इकॉनमी आफ नार्दर्न इंडिया, जिल्द 1 एवं 2, कलकत्ता, 1970.
- बोस, डी० एम०; सेन, एस० एन० एवं सुब्बरयप्पा, बी० वी० (सम्पादकगण), ए कन्साइज हिस्ट्री
 ऑफ साइन्स इन इंडिया, नई दिल्ली, 1971.
- भट्टाचार्य, शिवेश चन्द्र, सम ऐस्पेक्ट्स आफ इंडियन सोसाइटी, - फ्राम सर्का सेकण्ड सेंचुरी बी०सी०
 टु सर्का फ़ोर्थ सेंचुरी ए०डी०, कलकत्ता, 1978.
- मजूमदार, बी० पी०, सोशियो-ईकोनॉमिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया (1030-1194 ए० डी०),
 कलकत्ता, 1960.
- मजूमदार, रमेश चन्द्र (आर०सी०), प्राचीन भारत में संघटित जीवन, अनुवादक के० डी० बाजपेयी,
 सागर, 1966.
- हिस्ट्री आफ एन्शेंट बंगाल, कलकत्ता, 1971.
- एवं पुसलकर, ए० डी०-- सम्पादक, दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, (द्वितीय संस्करण),
 बम्बई, 1953.
- ; पुसलकर, ए० डी० एवं मजूमदार, ए० के०-- सम्पादक, श्रेण्य युग (हिन्दी संस्करण),
 दिल्ली, 1984.
- मधोलकर, वनमाला, सोशियो-ईकोनॉमिक स्टडी आफ दि अर्ली जैन कथा लिटरेचर (ई० 700-
 1000), इलाहाबाद, 1995.
- महालिंगम्, टी० वी०, साउथ इंडियन पॉलिटी, मद्रास, 1967.
- मार्शल, जे०, टैक्सिला, जिल्दें 1-3, कैम्ब्रिज, 1951.

मिश्र, आर० एन०, एन्शेंट आर्टिस्ट्स ऐण्ड आर्ट एक्टिविटी, शिमला, 1975.

मिश्र, बी० डी०, “पाटरी आफ़ कौशाम्बी (1300 ई० पू० से 200 ई० पू०)”, बी० पी० सिनहा
(सम्पादक), पाटरी इन इंडिया, पटना, 1969.

मुकर्जी, राधा कुमुद (आर० के०), लोकल गवर्नमेण्ट इन एन्शेंट इंडिया, आक्सफोर्ड, 1919.

— एन्शेंट इंडियन एजुकेशन, लन्दन, 1951.

— हिन्दू सभ्यता, अनुवादक वासुदेव शरण अग्रवाल, दिल्ली, 1983.

मुकर्जी, संध्या, सम ऐस्पेक्ट्स आफ़ सोशल लाइफ़ इन एन्शेंट इंडिया, इलाहाबाद, 1976.

मेहता, रतिलाल एन०, प्री-बुद्धिस्ट इंडिया, दिल्ली, 1985 (पुनर्मुद्रित)।

मैती, सचीन्द्र कुमार, ईकोनॉमिक लाइफ़ आफ़ नार्दर्न इंडिया इन दि गुप्त पीरियड (ए० डी० 300-
550), दिल्ली, 1970.

यादव, बी० एन० एस०, सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दर्न इंडिया इन दि ट्वेल्फ़्थ सेंचुरी, इलाहाबाद,
1973.

यादव, मीनाश्री, ऐग्रीकल्चर ऐण्ड पेजेंट्स इन नार्दर्न इंडिया – फ़्राम सर्का 700 टु 1200 ए० डी०
(हिन्दी में), प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०
फिल० उपाधि हेतु स्वीकृत शोध-प्रबन्ध, 1992.

राज, भारती, प्राचीन भारत में सामाजिक गतिशीलता का अध्ययन, इलाहाबाद, 1985.

राधाकृष्णन, एस० (सम्पादक एवं अनुवादक), दि प्रिंसिपल उपनिषद्स, (पुनर्मुद्रित), लन्दन, 1974.

राय, उदय नारायण, प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, द्वितीय संस्करण, इलाहाबाद, 1998.

राय, एस० एन०, पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद, 1968.

राय, जी० के०, इनवालन्टरी लेबर इन एन्शेंट इंडिया, इलाहाबाद, 1981.

राय, जैमल, दि रूरल- अरबन इकॉनोमी ऐंड सोशल चेंजेस् इन एन्शेंट इंडिया, वाराणसी, 1974.

राय, ब्रजदेव प्रसाद (बी० पी०), दि लेटर वेदिक इकॉनोमी, पटना, 1984.

- रिजले, हर्बर्ट, दि पीपुल आफ इंडिया, द्वितीय संस्करण, लन्दन, 1915.
- रैप्सन, ई० जे० (सम्पादक), दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, जिल्द 1, पुनर्मुद्रित, दिल्ली, 1955.
- रिस डेविड्स, टी० डब्ल्यू०, बुद्धिस्ट इंडिया, लन्दन, 1903.
- रे, एच० सी०, दि डिनैस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इंडिया, 2 जिल्दें, कलकत्ता, 1931 एवं 1935.
- रेनो, लुई, रिलिजन्स आफ एन्शेंट इंडिया, एथलोन प्रेस, लन्दन, 1953.
- लिमये, वी०पी०, क्रिटिकल स्टडीज आन दि महाभाष्य, होशियारपुर, 1974.
- वाइजर, डब्ल्यू०एच०, दि हिन्दू जजमानी सिस्टम, लखनऊ, 1936.
- वागले, नरेन्द्र, सोसाइटी एट दि टाइम आफ दि बुद्ध, बम्बई, 1966.
- विंटरनिट्स, एम०, हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर (एस० केतकर द्वारा अंग्रेजी में अनूदित), जिल्दें 1 एवं 2, कलकत्ता, 1927, 1933.
- शर्मा, जी०आर०, एक्सकैवेशन्स एट कौशाम्बी, 1957-59, इलाहाबाद, 1960,
- (सम्पादक), कुषाण स्टडीज, इलाहाबाद, 1968.
- शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डिनैस्टीज, दिल्ली, 1959.
- शर्मा, रामशरण (आर०एस०), शूद्रस् इन एन्शेंट इंडिया, द्वितीय संस्करण, दिल्ली, 1980.
- लाइट आन अर्ली इंडियन सोसाइटी ऐण्ड इकॉनोमी, बम्बई, 1966.
- इंडियन प्र्यूडलिज्म, द्वितीय संस्करण, दिल्ली, 1980.
- पर्सपेक्टिव्स इन सोशल ऐण्ड ईकोनॉमिक हिस्ट्री आफ अर्ली इंडिया, नई दिल्ली, 1983.
- शास्त्री, अजय मित्र, इंडिया ऐज सीन इन दि बृहत्संहिता आफ वराहमिहिर, दिल्ली, 1969.
- (सम्पादक), दि एज आफ दि सातवाहनस्, जिल्द 1, नई दिल्ली, 1999.
- शास्त्री, के०ए० नीलकण्ठ (सम्पादक), नन्द-मौर्य युगीन भारत (अनुवादक मंगलनाथ सिंह), दिल्ली, 1969.

— (सम्पादक), एज आफ दि नन्दस् ऐण्ड मौर्यस्, बनारस, 1952.

— (सम्पादक), ए कॉम्प्रिहेंसिव हिस्ट्री आफ इंडिया, जिल्द 2, बम्बई, 1957.

श्रीवास्तव, ओ०पी०, कमर्शल टैक्सेशन इन इंडिया— सर्का ए०डी० 600-1200, इलाहाबाद, 1999.

श्रीवास्तव, बी०एन०, हर्ष ऐण्ड हिज टाइम्स, वाराणसी, 1976.

सरकार, डी०सी०, स्टडीज इन पोलिटिकल ऐण्ड ऐडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम्स आफ एन्शेंट ऐण्ड मेडीवल इंडिया, दिल्ली, 1974.

सांकृत्यायन, राहुल, पुरातत्त्व-निबन्धावली, इंडियन प्रेस, प्रयाग।

— (सम्पादक), हिन्दी काव्य-धारा, किताब महल, इलाहाबाद, 1945.

सिनहा, बी०पी० (सम्पादक), पॉटरी इन इंडिया, पटना, 1969.

सेन, मधु, ए कल्चरल स्टडी आफ दि निशीथ चूर्णि, वाराणसी, 1975.

सेन, पी०एन०, ऐन इंट्रोडक्शन टु हिन्दू जूरिसप्रूडेंस, इलाहाबाद, 1984 (का संस्करण)।

सैयद, ए०जे० (सम्पादक), डी०डी० कोसम्बी ऑन हिस्ट्री ऐण्ड सोसाइटी, बम्बई, 1985.

हाजरा, आर०सी०, पुराणिक रेकार्डस् आन हिन्दू राइट्स ऐण्ड कस्टम्स, ढाका, 1940.

— स्टडीज इन दि उपपुराणस्, जिल्द 1 एवं 2, कलकत्ता, 1977.

शोध-पत्रिकाएँ, प्रोसीडिंग्स एवं रिपोर्ट्स

अमेरिकन जर्नल आफ सोसिऑलोजी।

आर्किअलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया, ऐनुअल रिपोर्ट।

इंडियन कल्चर।

इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली।

इंडियन हिस्टॉरिकल रिव्यू।

एन्शेंट इंडिया—बुलेटिन आफ़ दि आर्किअलॉजिकल सर्वे आफ़ इंडिया।

एपिग्राफिया इंडिका।

जर्नल आफ़ दि ईश्वरी प्रसाद इंस्टीट्यूट आफ़ हिस्ट्री।

जर्नल आफ़ दि गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ।

जर्नल आफ़ दि रायल ऐशियाटिक सोसाइटी।

जर्नल आफ़ दि ईकोनॉमिक ऐण्ड सोशल हिस्ट्री आफ़ दि ओरियन्ट।

जर्नल आफ़ दि यू०पी० हिस्टॉरिकल सोसाइटी।

प्रोसीडिंग्स आफ़ दि इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस।